Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृति-विमर्श

सच्चिदानन्द सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृति-विमर्श

सच्चिदानन्द सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृति - विमर्श

RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION

उपहार स्वरूप
Gifted by
राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
BLOCK DD-34 SECTOR-1 SALT LAKE
KOLKATA - 700 064

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

Vagdevi Prakashan, Bekanair

वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

70838

संस्कृति - विमर्श

सच्चिदानन्द सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

प्रस्तावना

संस्कृति का अर्थ विभिन्न समूहों द्वारा अलग-अलग लगाया जाता रहा है। कला कर्मियों के लिए संस्कृति कर्म मूलतः कला कर्म है। वे इसे साहित्य, नृत्य, नाट्य, संगीत तथा चित्रकला आदि कला विधाओं से जोड़ते हैं। हालाँकि विख्यात अंग्रेजी साहित्यकार टी.एस. इलियट ने अपने निबंध 'नोट्स टुवर्ड्स द डेफिनिशन ऑफ कल्चर' में इसकी अधिक व्यापक व्याख्या की है। वह शुरू करता है सलीके (रिफाइनमेंट ऑफ मैनर्स) से जो संस्कृति के संबंध में आम धारणा के काफ़ी करीब है, और बाद में इसकी सीमाओं को चिह्नित करता है। फिर कलाओं एवं दर्शन आदि के ज्ञान के साथ इसके संबंधों की परीक्षा करते हुए अंततोगत्वा इस नतीजे पर पहुँचता है कि चूँकि कोई भी व्यक्ति संस्कृति से जुड़े सभी गुणों को हासिल नहीं कर सकता, संस्कृति किसी समूह या समाज का ही गुण हो सकती है। हिन्दी के जाने-माने कवि दिनकर अपनी पुस्तक 'संस्कृति के चार अध्याय' में इसे धर्म-दर्शन के विकास के साथ जोड़ते हैं और इसकी कसौटी कट्टरता का निषेध और सहिष्णुता की व्यापकता मानते हैं और दोनों दृष्टियों की तुलना विष और अमृत से करते हैं। इसके ठीक विपरीत जर्मनी के तानाशाह हिटलर ने संस्कृति (कल्चर) को किसी नस्ल की दूसरे नस्लों पर प्रभुत्व कायम करने की इच्छा-शक्ति से जोड़ा था और नौर्डिक नस्ल (जिसका जर्मनी की आबादी में बाहुल्य माना जाता था) को इसका मुख्य वाहक माना था। इसके बाद से लगभग सभी अधिनायकवादी समूह अपने विशेष समूह की श्रेष्ठता उसकी संस्कृति की श्रेष्ठता से जोड़ते रहे हैं—चाहे वह मूल की श्रेष्ठता का दावा हो, चाहे धर्म की श्रेष्ठता का दावा।

नृशास्त्री, जिनके लिए संस्कृति वैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र है, इसे मनुष्य के उन तमाम व्यवहारों एवं उपलब्धियों से जोड़ते हैं जो उसे मानव समूह का सदस्य होने के नाते उपलब्ध होते हैं। विख्यात नृशास्त्री क्लोद लेवी स्ट्रास एक कदम आगे बढ़ इसे भाषा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

की ही तरह मनुष्य के चरित्र में निहित संरचनात्मक प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति मानता है। नृशास्त्रियों के लिए संस्कृति मनुष्यों का वह विशिष्ट गुण है जो उन्हें दूसरे प्राणियों से अलग करता है और इसलिए इसे उनके जीव वैज्ञानिक अध्ययन से अलग अध्ययन का क्षेत्र बनाता है। इसके लिए वे मनुष्यों में सभी जगह पाये जाने वाले समान व्यवहारों और संस्थाओं का अध्ययन करते हैं—जैसे कौटुम्बिक संबंध (किनशिप), प्रौद्योगिकी, वस्तुओं का आदान-प्रदान, कला, सामाजिक संबंध, धर्म, भाषा आदि। इसके विपरीत जैव वैज्ञानिकों का एक समूह, जिसे सोशियो-बायोलॉजिस्ट कहा जाता है, संस्कृति को पूरी तरह जैविक गुण का विस्तार मानता है और यह मान कर चलता है कि मनुष्य के सारे व्यवहार उसकी आनुवंशिकी से निर्धारित होते हैं।

इस पुस्तक में जो विचार संस्कृति के संबंध में अपनाया गया है उसमें ऊपर की विविध दृष्टियों को एक हद तक समाहित किया जा सकता है, उनकी त्रुटियों को रेखांकित किया जा सकता है और उनकी व्याख्या हो सकती है। संस्कृति संबंधी यह दृष्टि नृशास्त्रियों और सोशियो-बायोलॉजिस्टों के बीच का मार्ग लेकर चलती है। इसमें जीवों के व्यवहार पर आनुवंशिकी का निर्णायक प्रभाव तो माना गया है लेकिन यह विचार अपनाया गया है कि जीवों के विकास के क्रम में विकसित स्तनपायी जीवों के लिए तेजी से बदलते परिवेश में आनुवंशिकी पर निर्भरता उनके अस्तित्व की रक्षा करने में अपर्याप्त होती है। इसी स्थिति के दबाव में आदमी में संस्कृति का विकास हुआ जिसने उसके दैनन्दिन के सामाजिक जीवन में आनुवंशिकी की भूमिका को लगभग नगण्य बना दिया है।

लोगों के व्यवहारों को नियंत्रित करने में सूचनाओं की निर्णायक भूमिका होती है। आनुवंशिकी वैसी ही सूचनाओं का स्रोत होती है जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी यह तय करती रहती है कि जीव की संरचना कैसी होगी और वह कैसा व्यवहार करेगा। मनुष्य के सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन में संस्कृति भी ऐसी ही सूचनाओं का स्रोत होती है जिससे समाज में व्यक्तियों का व्यवहार निर्धारित होता है। आनुवंशिकी से निर्धारित जीवों के व्यवहारों और संस्कृतिजन्य व्यवहारों में एक हद की निरंतरता होती है। मानव समाज में मनुष्य के व्यवहारों का जीव-जगत में आनुवंशिकीजन्य व्यवहारों से निरंतरता का कुछ विवरण इसकी सत्यता सिद्ध करने के लिए दिया गया है।

जीवों के विकास के क्रम में आवश्यकता के अनुसार विविध अंग विकसित होते रहे हैं। लेकिन अंगों की इस विकास प्रक्रिया में विकास सदा वहीं नहीं रुक जाता जहाँ तक यह आवश्यक होता है। अक्सर यह विकास बेज़रूरत और बेडौल हो जाता है और जीवन के लिए ख़तरा पैदा कर सकता है जिसे अंग्रेजी में 'हाइपरट्रॉफी' कहा जाता है। मनुष्य भी सांस्कृतिक विकास में अपने लिए आवश्यक निर्माण की सीमा से परे जा ऐसे 'हाइपरट्रॉफी' की ओर बढ़ता है और जीवन के लिए ख़तरा पैदा करता है। पुस्तक में समाज के मौजूदा दौर में सांस्कृतिक विकास के इस पहलू से पैदा ख़तरे का कुछ संकेत भी दिया गया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृति और समाज का जो रिश्ता इस अध्ययन से उभर कर आता है, उससे ऐसा लगता है कि संस्कृति आदमी को आवृत्त करने वाला वह परिवेश है जो जीवन को पूरी तरह नियंत्रित करता है। इस तरह संस्कृति के अध्ययन के क्रम में ही कुछ मूलभूत दार्शनिक प्रश्न भी एक अलग रूप में सामने आते हैं और एक हद तक उत्तरित भी होते हैं। चूँकि आज अपनी और परायी संस्कृति तथा अप-संस्कृति जैसी अवधारणाओं पर काफ़ी चर्चा चल रही है, इन चर्चाओं को भी सही परिप्रेक्ष्य में रखने का प्रयास किया गया है। इस तरह यहाँ ग़ैर-अकादमिक नजरिये से संस्कृति से संबद्ध अनेक मुद्दों और अवधारणाओं को एक सांचे में ढाला गया है जिससे संस्कृति की ओर देखने का संतुलित दृष्टिकोण उपलब्ध हो सके। आशा है, संस्कृति संबंधी वर्तमान विमर्श में यह पुस्तक समुचित योगदान कर सकेगी।

अंत में, पुस्तक के लेखन में हर तरह की सहायता, सहयोग तथा पांडुलिपि तैयार करने के सिलसिले में सभी परेशानी वाले कामों से मुक्त रखने के लिए दो मित्रों, प्रो. उदयशंकर सिंह और प्रो. नवलकिशोर प्रसाद सिन्हा के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करना चाहता हूँ।

—सच्चिदानन्द सिन्हा

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अनुक्रम

प्रस्तावना

अध्याय : एक
संस्कृति : सूचनाओं का संसार 9

अध्याय : दो
अमरत्व की तलाश 21

अध्याय : तीन
संस्कृति का उद्‌भव एवं सूचना स्रोतों का विकास 32

अध्याय : चार
संस्कृति के संदर्भ में मनुष्य की केन्द्रीयता 49

अध्याय : पांच
परिवेश का बंधन और दिशा बोध 53

अध्याय : छह
आनन्द की इच्छा और कला 67

अध्याय : सात
समाज का ताना-बाना : व्यवस्था और धर्म 86

अध्याय : आठ
संस्कृति का आत्मबोध और विशालता का संकट 95

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : एक

संस्कृति : सूचनाओं का संसार

मनुष्य का यह विलक्षण गुण है कि वह जिन चीज़ों को सब से कम समझता है उन पर सब से तेज प्रतिक्रियाएँ व्यक्त करता है। भौतिक धुंध में पिटे व्यक्ति की तरह वैचारिक धुंध में भी साफ दृष्टिगोचर पथ के अभाव में बढ़ने के बदले आदमी बेचैनी से आगे-पीछे, इधर-उधर हाथ-पाँव मारने की कोशिश भर करता और उद्वेलित होता है। फिलहाल संस्कृति भी इसी तरह गहन भावनात्मक विवाद का मुद्दा बन गयी है। लोग इस विषय पर उद्वेलित हैं और यह महसूस करते हैं कि कुछ गड़बड़ हो रहा है, उनके सुपरिचित संसार का रूप बदल-सा रहा है और कुछ करना ज़रूरी है। लेकिन वे संस्कृति, अप-संस्कृति, विसंस्कृति, सांस्कृतिक अतिक्रमण जैसे शब्दों के घटाटोप में यह तय नहीं कर पाते कि यह गड़बड़ आख़िर है क्या। संस्कृति पर कौन सा ख़तरा पैदा हो गया है और फिर यह संस्कृति है क्या, जिस पर ख़तरा उपस्थित हो गया है। चूँकि वे ज्ञानी व्यक्ति भी, जो संस्कृति पर उपस्थित ख़तरों के प्रति आगाह करते दिखाई देते हैं, यह कभी परिभाषित नहीं करते कि यह संस्कृति जो ख़तरे में है आख़िर है क्या, यह संदेह होता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि आगाह करने वाली विद्वत् मंडली का भावनात्मक आवेश उनकी अपनी ही वैचारिक धुंध का परिणाम है!

यह सोचना तो हिमाकत होगी कि विविध विषयों के जानकार, कलाकार, साहित्यकार, रंगकर्मी एवं पत्रकार जब सांस्कृतिक आक्रमण या ह्रास की बात करते हैं तो संस्कृति के बारे में बिना किसी समझदारी के करते हैं। लेकिन ऐसा ज़रूर लगता है कि विभिन्न विधाओं से जुड़े लोग इसे अपनी विशेष विधा और अपनी ही समस्या के नजरिये से देखते हैं और संस्कृति के संबंध में कोई समग्र दृष्टि नहीं प्रस्तुत करते। यहाँ पाँच अंधों और हाथी वाली प्रचलित कथा की स्थिति चरितार्थ होती है। पाँचों अंधे अपने-अपने अनुभव के अनुसार सच्ची बात ही कहते हैं, लेकिन सभी अनुभवों को जोड़ हाथी की कोई स्पष्ट समझदारी नहीं बना पाते और इस तरह सभी अपने-अपने सत्य का दावा पेश करते हुए झगड़ते रहते हैं।

ऊपर की भूमिका से ऐसा लगेगा कि यहाँ कोई बिल्कुल नया और चौंकाने वाला विचार संस्कृति के संबंध में प्रस्तुत किया जाने वाला है। लेकिन ऐसा सोचने वाले निराश होंगे। जो कुछ किया जाने वाला है वह है सिर्फ़ उन जानकारियों का जोड़ प्रस्तुत करना जिन्हें संस्कृति का अध्ययन करने वाले, विशेषकर नृशास्त्री एक पद्धति के रूप में प्रस्तुत

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करते हैं। नया सिर्फ़ यह है कि इसे अब मनुष्य के मनुष्य के रूप में विकास को एक अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इस बुनियादी जानकारी से खरे और खोटे का भेद स्वत: उजागर हो जायेगा। पाठक निराश हो कहेंगे, 'खोदा पहाड़ निकली चुहिया'। बिल्कुल सच। लेकिन आदमी रहस्यखोजी जीव है। तभी तो जासूसी उपन्यासों की भरमार रहती है। और यहीं तो आधार है हमारे सारे ज्ञान-विज्ञान का। अरबों-खरबों रुपये अंतरिक्ष यानों पर यह जानने के लिए खर्च किये जा रहे हैं कि मंगल ग्रह पर आज से अरबों बरस पहले जीव थे या नहीं—ऐसे सूक्ष्म जीव जो चूहों से भी लाखों गुने छोटे हों। तो चुहियों की खोज में पहाड़ों की खुदाई जारी रहेगी। हम भी बस यही कर रहे हैं।

इस सफाई के बाद हम विषय पर लौटें।

भौतिक शास्त्रियों के पास धर्मों में वर्णित ईश्वर द्वारा मनचाहे समय में संसार को उत्पन्न करने के सिद्धांत के मुकाबले महाविस्फोट (बिग बैंग) का एक सिद्धान्त उपलब्ध है जिसके बाद से क्षणों के लक्षांशों और सहस्रांशों से शुरू हो करोड़ों और अरबों वर्ष से ब्रह्माण्ड के विकास का क्रम जारी है। लेकिन जो मनुष्य और मानव समाज की उत्पत्ति को समझने की कोशिश करते हैं उनके लिए उत्पत्ति के किसी ऐसे महान क्षण की अवधारणा उपलब्ध नहीं। उन्हें या तो सब कुछ ईश्वर प्रदत्त मान लेना होता है (जो सुविधाजनक है) या फिर करोड़ों वर्षों में होने वाली विकास की अवधारणा को कबूल करके चलना होता है। हमारी संस्कृति के विकास की कहानी भी कुछ ऐसी ही है। इसे जीवन और मानव जीवन के विकास की प्रक्रिया से जोड़ कर ही समझा जा सकता है। इस प्रक्रिया में कोई स्पष्ट विभाजन रेखा या उत्पत्ति का क्षण नहीं। जीवन और मानव जीवन का विकास एक सातत्य है जिसमें एक कालखण्ड के बाद संस्कृति की उत्पत्ति दिखाई देने लगती है, जो जीव की विकास प्रक्रिया के ही एक आयाम के रूप में विकसित होती है।

नृशास्त्री संस्कृति में उन सारे कौशलों और जीवनयापन के ढंग को शामिल करते हैं जो मनुष्य को आनुवंशिकी के बजाय मानव समाज में परंपरा एवं मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों से प्राप्त होते हैं। इसमें वे उसकी भाषा, धर्म, ज्ञान-विज्ञान, आचार-विचार, तकनीकी, नियम-कानून, विश्वास, कला, साहित्य, नृत्य, संगीत आदि सभी को शामिल करते हैं। यानी उसके व्यवहार के वे पहलू जो आनुवंशिकी से प्राप्त उसके जैविक गुण नहीं हैं बल्कि समाज से प्राप्त गुण हैं जो जैविक गुण (इंस्टिंक्ट) जैसे ही अनायास प्रकट होते हैं। एक उदाहरण से फ़र्क़ स्पष्ट होगा—चलते हुए पाँव में कांटा चुभ जाने पर हम पीड़ा के अनुभव से पाँव उठा लेते हैं और चलना बंद कर देते हैं। यह मनुष्य का जैविक गुण है जो उसकी आनुवंशिकी से प्राप्त होता है। ऐसा व्यवहार हम धुव्र प्रदेश में रहने वाले एस्कीमो एवं गर्म प्रदेश में रहने वाले भारतीयों, सभी में पा सकते हैं। दूसरी ओर सामने किसी परिचित या मित्र के दिख जाने पर हठात् हम अभिवादन में हाथ जोड़ देते हैं, या दूसरी तरह से अभिवादन करते हैं। यह शिष्टाचार है जो हमें अपनी संस्कृति से प्राप्त होता है। यह जैविक नहीं है, लेकिन जैविक गुण जैसा ही यांत्रिक होता है। अलग-अलग संस्कृतियों में इसके रूप भिन्न होते हैं पर अभिवादन का कोई न कोई रूप सभी समाजों में होता है। इस अर्थ में हिन्दी शब्द संस्कार, संस्कृति के चरित्र को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ठीक-ठीक अभिव्यक्त करता है। हमारा संस्कार अपने समाज के व्यक्तियों के संपर्क से प्राप्त वह गुण है जिसे हमने इस तरह आत्मसात कर लिया है कि विभिन्न स्थितियों में उनके अनुरूप हम बिना प्रयास के स्वत: यथोचित व्यवहार करते हैं। अगर कोई ऐसा अपेक्षित व्यवहार करने में चूक जाता है तो हम उसे संस्कारहीन कह देते हैं। लेकिन असल में कोई भी व्यक्ति संस्कृतिविहीन नहीं हो सकता। विक्षिप्तता की अभिव्यक्ति भी सांस्कृतिक संदर्भ के अनुरूप ही होती है। विक्षिप्त व्यक्ति के व्यवहारों में कोई तारतम्य या परिस्थिति से संगति नहीं दिखाई देती। लेकिन उसके अट्टहास और रुदन, गाली-गलौज और छटपटाहट सभी उसकी अपनी भाषा और अपनी परम्परा के अनुरूप ही होंगे। इस दृष्टि से पागलपन में निश्चित ही संगति होती है (मेथड इन मैडनेस)। सांस्कृतिक व्यवहार में कुछ मानक ज़रूर उभर आते हैं लेकिन असली व्यवहार में मनुष्य इन मानकों से थोड़ा इधर-उधर हट कर ही रहता है। ये मानक तो महज औसत व्यवहार अभिव्यक्त करते हैं। मनुष्य संस्कृतिविहीन इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि जीवित रहने के लिए उसे भोजन, कपड़ा, आवास आदि चाहिए जो तकनीकी यानी संस्कृति की देन हैं। इसी तरह उसे भाषा या किसी अन्य संकेत माध्यम से दूसरों से संप्रेषण की आवश्यकता होगी ही। अगर वह झगड़ालू है तो अपने झगड़ालूपन को भी अपनी संस्कृति में उपलब्ध तौर-तरीकों से ही व्यक्त कर सकता है। संस्कृति जीवन में इतनी व्याप्त है कि जैसे हम जल बिना मछली के जीवन की कल्पना नहीं कर सकते वैसे ही संस्कृति बिना मनुष्य के जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते।

मानव जीवन के हर क्षेत्र में इसकी व्यापकता के बावजूद आम तौर से संस्कृति की चर्चा जब भी होती है तब नृत्य, संगीत, भाषा एवं साहित्य के संदर्भ में होती है। कारण यह है कि संस्कृति प्रतीकधर्मी है और प्रतीकों के माध्यम से सूचनाओं का संप्रेषण संस्कृति और इसके माध्यम से समाज के निर्माण और विकास का अनिवार्य अंग है। चूँकि नृत्य, संगीत, भाषा एवं साहित्य सभी की अभिव्यक्ति प्रतीकात्मक है और संस्कृति के संप्रेषण में इनकी विशेष भूमिका होती है इसलिए यह भ्रम पैदा होता है कि ये विधाएँ ही संस्कृति हैं। लेकिन संस्कृति के निर्माण में सूचनाओं की भूमिका इससे कहीं अधिक व्यापक है। संस्कृति सूचनाओं से निर्मित और नियंत्रित भी है और सूचनाओं का स्रोत और संप्रेषक भी है। असल में सभी संरचनात्मक गठन[1] चाहे वह जीवाणुओं, जीवों, वनस्पतियों की कोशिकाओं या वृक्षों का हो चाहे पशुओं और मनुष्यों के समूहों का, सूचनाओं के संप्रेषण पर आधारित होता है। जहाँ कहीं भी गठन है या संरचनात्मक विकास की प्रक्रिया है, किसी न किसी सूचना स्रोत की नियामक भूमिका उसके पीछे होती है। इसलिए संरचना अपने विशेष परिवेश से स्वतंत्र हो अस्तित्व में नहीं रह सकती—यानी वह इसे आबद्ध करने वाली सीमांत की स्थितियों से स्वतंत्र नहीं रह सकती। उदाहरण स्वरूप एक वृक्ष

1. संरचनात्मक गठन का अर्थ है विभिन्न अवयवों के बीच एक निश्चित संबंध: ऐसा संबंध जिसके किसी बिंदु पर बदलाव से सारे गठन में नियमबद्ध बदलाव होता है। घड़ी या कोई अन्य मशीन इसका उदाहरण है। लेकिन इसी का उदाहरण कोई जीवित प्राणी भी है, हालाँकि इसकी बनावट कहीं अधिक जटिल होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मिट्टी, जल, हवा और प्रकाश की स्थितियों से स्वतंत्र रूप से जीवित या विकसित नहीं हो सकता। इसी तरह एक मानव परिवार भोजन, जल आदि के स्रोतों तथा पड़ोस के दूसरे परिवारों या हिंस्र पशुओं आदि की उपस्थिति से असंपृक्त अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। दोनों ही अलग-अलग धरातल पर संरचनात्मक अस्तित्व की मिसाल हैं। लेकिन जीवों या समुदायों, या किसी दूसरी तरह के संरचनात्मक गठन का, उसके परिवेश के साथ संबंधों के पीछे होता है सूचनाओं का संसार, जिसके बिना इनकी पारस्परिकता असंपृक्तता में बदल जाती है। गठन की विपरीतार्थक स्थिति पूर्ण बिखराव (अंग्रेजी शब्द केओस से यही बोध होता है) की होती है, जिसमें विभिन्न तत्त्व बिना किसी तारतम्य या पारस्परिक संबंध के अलग-अलग पड़े होते हैं। यानी इनके बीच सूचना का संचार नहीं होता। यहाँ सूचना के संबंध में थोड़ी चर्चा ज़रूरी है।

किसी मशीन में सूचनाएँ उसकी बनावट में होती हैं। इन्हीं सूचनाओं से उसके विभिन्न पुर्जों के पारस्परिक संबंध और संचालन प्रक्रियाएँ निर्णीत होती हैं; जैसे एक घड़ी के पुर्जे और उनका चलना। इसके चलने के लिए ऊर्जा चाबी से, बिजली से या किन्हीं और बाहरी स्रोतों से मिलती है। लेकिन यह कैसे चलेगी वह इसकी बनावट में निहित सूचनाओं पर निर्भर करेगा। फिर भी चूँकि इसमें सूचनाएँ एक-बारगी डाल दी गयी हैं इसलिए इसकी चाल में बाहरी परिस्थितियों के अनुरूप कोई परिवर्तन करने की क्षमता अपने भीतर नहीं होती। लेकिन अद्यतन मशीनों में, जिन्हें साइबरनेटिक मशीनें कहते हैं, नयी परिस्थितियों से नयी सूचनाएँ प्राप्त करने की क्षमता होती है। इन सूचनाओं के माध्यम को 'फीड बैक लूप' कहते हैं। इन सूचनाओं के आलोक में ये मशीनें स्वयं अपनी गति और स्थिति को बदल कर अपने कार्य को बदली परिस्थिति के अनुरूप बनाती हैं। एक सरल उदाहरण थर्मोस्टेट का है—यानी उस यंत्र का जो जल या हवा के ताप को एक निश्चित ऊँचाई पर रखता है। यही व्यवस्था पानी गर्म करने वाले गीजर या ठंडा रखने वाले फ्रिज में होती है। इनमें जब ताप इच्छित डिग्री से ऊपर या नीचे जाता है तो सूचना-वाहक नली, तार या कोई दूसरे माध्यम (फीड बैक लूप) से ताप बढ़ाने या घटाने वाले यंत्र को सूचना प्राप्त हो जाती है कि वह अब अपना काम स्थगित कर दे। इस तरह ताप एक ख़ास ऊँचाई पर बना रहता है। इसी का एक अत्यंत जटिल नमूना हमारे शरीर की ताप नियंत्रक प्रणाली है। जब अत्यधिक ताप से हमारे शरीर की कार्य प्रणाली प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने लगती है—हमारा शरीर मोटामोटी 37° से. पर ही सक्षमता से काम कर सकता है—तब हमारे शरीर का सूचना-तंत्र यह सूचना देकर शरीर के ताप नियंत्रक यंत्र को सक्रिय कर देता है। फिर पसीना निकलना शुरू हो जाता है जिसके वाष्पीकरण से शरीर को शीतलता मिलती है। लेकिन जीवों का अस्तित्व ताप के अलावा अनेक तरह के दूसरे भौतिक और रासायनिक संतुलनों पर निर्भर करता है। इन सब तरह के संतुलनों के लिए मस्तिष्क के नियंत्रण कक्ष को विभिन्न तरह के फीड बैक लूप से सूचनाएँ प्राप्त होती रहती हैं। उदाहरण के लिए शरीर में जल की कमी होने से हम प्यास का अनुभव करते हैं और इससे पैदा हुई बेचैनी से बचने के लिए हम पानी पीते हैं जिससे शरीर में जल का संतुलन कायम हो जाता है। इसी तरह शरीर के लिए आवश्यक विभिन्न

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

तरह के रासायनिक तत्त्वों की कमी या अति को नियंत्रित करने की व्यवस्था जटिल फीड बैक के द्वारा शरीर में होती है। इस पूरी व्यवस्था को अंग्रेजी शब्द 'होमियोस्टेसिस' से व्यक्त किया जाता है। यह गुण अत्यंत छोटे कीटाणुओं एवं निम्न स्तर के पौधों से लेकर जटिल से जटिल बनावट वाले सभी जीवों एवं मनुष्य की बनावट में होता है। लेकिन इसके लिए परिवेश से आदान-प्रदान ज़रूरी होता है, बाहर से पूरी तरह कटी-छंटी व्यवस्था (आइसोलेटेड सिस्टम) में यह नहीं हो सकता क्योंकि संतुलन के लिए तत्त्वों का ग्रहण एवं निस्सरण सीमा के बाहरी क्षेत्र से आदान-प्रदान पर ही निर्भर है।

विज्ञान का यह लगभग मान्य सिद्धान्त बन गया है कि किसी भी संरचनात्मक गठन का कार्यरत रहना उसके अपने वातावरण से आदान-प्रदान पर निर्भर करता है। वैज्ञानिक लोग अपनी भाषा में इस प्रक्रिया को यह कह कर परिभाषित करते हैं कि परिवेश से अलग-थलग स्थित किसी भी व्यवस्था (आइसोलेटेड सिस्टम) में 'एंट्रोपी' का बढ़ना अनिवार्य है। एंट्रोपी बढ़ने का अर्थ यह लगाया जाता है कि व्यवस्था विशृंखलन की ओर बढ़ेगी और उसमें ऊर्जा के सर्जनात्मक संचरण का अंत हो जायेगा। एक स्थूल उदाहरण के रूप में हम एक मृत शरीर को पेश कर सकते हैं जिसका परिवेश से हवा, भोजन, जल या किसी तरह की सूचना का लेन-देन ख़त्म हो जाता है और वह धीरे-धीरे विघटित हो तत्त्वों में विलीन हो जाता है। इसे एक स्थूल उदाहरण इसलिए कहा गया क्योंकि असल में यह पूरी तरह परिवेश से कटा हुआ नहीं होता। इसका पास की हवा, पानी या अन्य वस्तुओं से एक-दूसरे स्तर (ग़ैर-संरचनात्मक स्तर) का आदान-प्रदान होता है, अनेक कीटाणु इस पर सक्रिय होते हैं और इसके विघटन की प्रक्रिया को तेज करते हैं। ये कीटाणु स्वयं परिवेश के तत्त्वों के साथ व्यवस्थित आदान-प्रदान करते होते हैं, यानी उनमें 'होमियोस्टेसिस' की प्रक्रिया निर्बाध चलती होती है। मृत शरीर उनके परिवेश का अंग बन जाता है। असल में धरती के जीव मंडल (बायोस्फीअर) में पूर्ण रूप से कोई भी अलग-थलग व्यवस्था (आइसोलेटेड सिस्टम) नहीं है। ऐसी अलग-थलग व्यवस्था वास्तव में एक सैद्धान्तिक कल्पना ही है जिसका इस्तेमाल प्रकृति एवं जीव जगत् के एक अंतर्निहित रुझान को अभिव्यक्त करने के लिए होता है। एंट्रोपी की एक दूसरी भी अवधारणा है जो हमें संचार वैज्ञानिकों से प्राप्त हुई है। वे सूचनाओं को 'एंट्रोपी' से जोड़ते हैं। इसके मुताबिक सूचना का एंट्रोपी से विरोधात्मक संबंध है— यानी बढ़ती हुई एंट्रोपी घटती सूचनाओं का संकेत है।[1] ऊपर संस्कृति की संप्रेषणधर्मिता की बात की गयी है। एंट्रोपी की इस व्याख्या से सहज ही हम संस्कृति से सूचना और संप्रेषण के संबंध को देख पायेंगे। असल में यह सिद्धान्त किसी भी व्यवस्था या संरचना को सूचनाओं पर निर्भर बताता है। अगर कहीं भी संरचनात्मक गठन है तो यह निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि इसका संबंध किसी सूचना स्रोत से है, जहाँ से इसे गठन के लिए आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त हो रही हैं। मनुष्य की चैतन्य उपस्थिति का

1. Information Theory and Evolution, by M.V. Volkunstein, in Cybernetics of Living Matter, Nature, Man, Information, Mir Publishers, Moscow, 1987 p. 83-84

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि उसके चारों ओर से सचेतन और अचेतन सारी प्रकृति उस पर संकेतों और सूचनाओं की बौछार कर रही होती है।

मानव समाज जैसे स्थूल अस्तित्व और उसे अनुप्राणित करने वाली संस्कृति को भाषा जैसी सूक्ष्म चीज़ या सूक्ष्म संकेतों वाली ललितकलाएँ कैसे नियंत्रित कर सकती हैं, इसे समझने के लिए सूचनाओं की एक दूसरी विशिष्टता की ओर ध्यान दिलाना ज़रूरी है; इसकी यह विशिष्टता है नगण्य ऊर्जा को खर्च कर विशाल परिमाण में ऊर्जा को गतिशील करने या इसकी धारा को बदल देने की क्षमता। यह क्षमता सूक्ष्म जीवाणुओं और कोशिकाओं से लेकर विराट भौतिक और सामाजिक घटनाओं में समान रूप से देखी जा सकती है। दार्शनिक रुझान वाले विख्यात वैज्ञानिक जैक्स मोनो ने—जो जीवाणुओं में प्रोटीन की कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालने के लिए नोबेल पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं—अपनी दार्शनिक पुस्तक 'चांस एंड नेसेसिटी' में इस विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। उन्होंने बतलाया है कि जीवों का निर्माण करने वाले अति सूक्ष्म अणुओं में भी संकेत को समझने की क्षमता होती है। वह बतलाते हैं कि इन अणुओं की आंतरिक प्रक्रियाओं में इन संकेतों की निर्णायक भूमिका होती है। इनका व्यवहार ऐसा है मानो ये अणुओं को पहचान कर विशेष अणुओं से ही रासायनिक संबंध जोड़ती हैं। इन संकेतों पर काम करने वाले प्रोटीनों को जैक्स मोनो 'स्टीरियो स्पेसिफिक' की संज्ञा देता है। इस प्रक्रिया में एंजाइम (कण्वक), जो कैटालिसिस का काम करने वाला प्रोटीन ही होता है, की ख़ास भूमिका होती है। इसमें जो दिलचस्प बात बतलाई गयी है वह यह है कि ये एंजाइम जिन अणुओं की प्रक्रिया को तेज करते हैं, उनसे संकेत ग्रहण करने में नगण्य ऊर्जा का, जिसे वह 'केमिकल पोटेंशियल' कहता है, इस्तेमाल करते हैं, हालाँकि इससे आणविक स्तर पर विशाल ऊर्जा वाली रचनात्मक गतिशीलता आ जाती है।

एंजाइमों की अणुओं को पहचानने की इस क्षमता की तुलना जैक्स मोनो उन्नीसवीं सदी के विख्यात भौतिक शास्त्री जेम्स क्लर्क मैक्सवेल के डेमन (दैत्य) से करते हैं। अपने काल्पनिक प्रयोग में मैक्सवेल ने एक स्थिति की कल्पना की जिसमें समान ताप पर दो गैस के बर्तन एक पतली नली द्वारा जोड़ दिये गये हों। इन बर्तनों के मिलन बिंदु पर उन्होंने एक ऐसे सूक्ष्म डेमन (दैत्य) की उपस्थिति की कल्पना की, जो दोनों बर्तनों के बीच आने-जाने वाली गैस के अणुओं में से एक बर्तन में सिर्फ़ अधिक ऊर्जा वाले अणुओं को आने देता है और दूसरे में सिर्फ़ कम ऊर्जा वाले अणुओं को। इस तरह धीरे-धीरे एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जिसमें एक बर्तन में, जिसमें अधिक ऊर्जा वाले अणु होंगे, गैस का ताप बढ़ जायेगा और दूसरे में ताप घट जायेगा। यह काल्पनिक प्रयोग वैज्ञानिकों के लिए सदा मानसिक उलझन पैदा करता रहा। दो कारणों से। एक तो यह कि थर्मोडायनेमिक्स के दूसरे नियम के अनुसार दोनों बर्तनों के बीच ताप का अंतर घटना अनिवार्य है (जिसे बढ़ती एंट्रोपी कहते हैं), और दूसरा यह कि डेमन को यह तय करने के लिए कि आने वाले अणु की ऊर्जा कम है या अधिक, कितनी ही कम क्यों न हो, अणुओं से कुछ ऊर्जा ग्रहण करनी होगी। इससे कुल उपलब्ध ऊर्जा की मात्रा में फ़र्क़ आयेगा। बाद के कुछ वैज्ञानिकों ने यह स्थापना की कि यह डेमन बिना ऊर्जा ग्रहण

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किये अधिक और कम ऊर्जा वाले अणुओं के बीच फ़र्क नहीं कर सकता और साथ ही एक नया समीकरण कायम किया जिसके अनुसार डेमन द्वारा प्राप्त सूचना (ऊर्जा) का सीधा संबंध बर्तनों के अणुओं की घटती एंट्रोपी से है। पीछे इसकी चर्चा की गयी है।

ऊपर इस प्रकरण की चर्चा इसलिए कर दी गयी क्योंकि बिखराव की स्थिति, यानी एंट्रोपी संरचना के ठीक प्रतिकूल है। इस तरह जैविक, सामाजिक अथवा सांस्कृतिक संरचना का सीधा संबंध सूचनाओं से देखा जा सकता है। संकेत को पहचानने एवं नगण्य ऊर्जा के आधार पर बृहत् संरचनात्मक प्रक्रियाओं के संचालन की जिस क्षमता का उल्लेख जैक्स मोनो ने अणुओं के स्तर पर किया वह अणुओं की सूक्ष्म दुनिया तक सीमित नहीं है। ऐसी घटना स्थूल स्तर पर समाज में रोज घटित होती रहती है। अब कल्पना कीजिए किसी महानगर की व्यस्त सड़क पर ट्राफिक सिगनल की। ट्राफिक सिगनल के हरे से लाल होने में अत्यंत ही अल्प ऊर्जा की खपत होती है। लेकिन इस बदले संकेत से हजारों मोटर गाड़ियाँ या दूसरे वाहन, जो लाखों टन बोझ को ला रहे होते हैं, एकाएक रुक जाते हैं। दूसरी ओर हजारों वाहन इनकी राह को काटते हुए चलने लगते हैं। यह नगण्य ऊर्जा से विशाल ऊर्जा को गतिशील करना हुआ। यह सब इसलिए संभव होता है क्योंकि गाड़ियों के स्टीयरिंग के पीछे संकेतों को पहचानने वाली चेतना की उपस्थिति होती है। यह चेतना पहले से संचित सूचनाओं की याददाश्त से आती है। इसी तरह एक नेता के उत्तेजक भाषण के प्रभाव से लाखों या करोड़ों लोग मरने-मारने के लिए तैयार हो जाते हैं। किसी भक्ति संगीत के प्रभाव से करोड़ों लोगों के जीवन का प्रवाह बदल जाता है। मीरा, सूरदास, कबीर आदि अनेक संत कवियों की वाणी हमारे यहाँ इसके उदाहरण हैं। रॉक एँड रोल संगीत का तो ऐसा उत्तेजक प्रभाव यूरोप के देशों में होता था कि हिंसक दंगे का दृश्य उपस्थित हो जाता था और सरकारों को उन्हें नियंत्रित करने की आवश्यकता महसूस होती थी। बाद के उदाहरणों का सीधा संबंध हमारे सांस्कृतिक जीवन से है।

प्रारंभ में कहा गया है कि संस्कृति मनुष्य के लिए अधिकांश वैसे काम करती है जो आनुवंशिकी से प्राप्त सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) निम्न स्तर के जीवों के लिए करती है। विभिन्न परिस्थितियों का सामना होने पर सहज प्रवृत्ति (इंस्टिंक्ट) द्वारा आवश्यकता के अनुसार जीवों के व्यवहारों को निर्देशित करने की अद्भुत क्षमता कहाँ से आती है? मकड़ी द्वारा गणित और विज्ञान के जटिल सिद्धान्तों के अनुरूप जाल बुनने, मधुमक्खियों द्वारा दूर-दराज के स्थानों से फूलों का रस ले, ठीक अपने छत्ते तक पहुँचना, पक्षियों द्वारा जटिल बुनावट वाले घोंसले बनाना, कुछ पक्षियों द्वारा हजारों किलोमीटर की दूरी तय कर उपयुक्त स्थान और जलवायु में अंडे देना आदि अद्भुत और जटिल कार्यों की क्षमता का उत्स क्या है? इनका उत्स करोड़ों वर्ष के विकास के क्रम में जीवों के अनुभवों की संचित निधि में है जो पुश्त-दर-पुश्त आनुवंशिकी के द्वारा इन जीवों को प्राप्त होती है। आनुवंशिकी से जीवों में गुणों का हस्तांतरण 'जीन' के जरिये होता है। जीव वैज्ञानिकों के मुताबिक बनावट और व्यवहार के प्रत्येक गुण के लिए जीन का एक जोड़ा होता है जिसमें संचित सूचनाएँ जीव-जगत् के प्रत्येक व्यक्ति को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विकास की आवश्यक दिशा देता है। उपयुक्त वातावरण में जीन के ये अलग-अलग जोड़े अलग-अलग बिन्दुओं पर बनावट और व्यवहार क्षमताओं का विकास कर समग्र व्यक्ति को उसकी प्रजाति के अनुरूप रूप और गुण प्रदान करते हैं। जीन वैज्ञानिकों (जेनेटिसिस्ट) के अनुसार ये गुण जीन के DNA (डी-ऑक्सीराइबो न्यूक्लिक एसिड) नामक विशाल रासायनिक अणुओं में संचित होते हैं (चित्र-1)। ये अणु 'न्युक्लियोटाइड' नाम के लाखों अणुओं की शृंखलाबद्ध लड़ियों से, जिन्हें डबल हेलिक्स कहा जाता है, बनते हैं। ये जीन बहुत बड़े और स्थायी होते हैं। इस कारण इनमें सूचनाओं को सुरक्षित रखने की क्षमता होती है। इसका मतलब यह नहीं कि इन में बदलाव नहीं होता। लेकिन यह बदलाव अचानक ही जीन के किन्हीं बिन्दुओं पर होता है जिसका प्रभाव धीरे-धीरे मालूम पड़ता है, और डारविन के प्राकृतिक चयन (नैचुरल सेलेक्शन) के नियम के तहत वैसे बदलाव जिनसे प्रजाति के अस्तित्व पर ख़तरा हो, प्रायः प्रजाति की आनुवंशिकी से विलुप्त हो जाते हैं।

ऊपर सूचना स्रोत को किसी भी संरचनात्मक गठन के निर्माण और अस्तित्व के लिए अनिवार्य कहा गया है। भौतिक तत्त्वों के प्रवाह तथा असंख्य परमाणुओं एवं अणुओं के संयोग, वियोग, एकीकरण और विघटन की दिशाहीन प्रक्रियाओं के बीच संरचनात्मक विकास से जीवन की उत्पत्ति और अनगिनत वनस्पतियों और जीवों की प्रजातियों के विकास का रहस्य सूचनाओं के अद्‌भुत स्रोत जीन के उद्‌भव और विकास से जुड़ा है। यह विकास कैसे हुआ, जीवन की उत्पत्ति कैसे हुई, यह रहस्य से जुड़ा है और अभी तक वैज्ञानिक इस रहस्य का उद्‌घाटन नहीं कर पाये हैं—हालाँकि जीन वैज्ञानिक इसकी झांकी पाने का दावा करते हैं। जीन के प्रभाव में विकास की यह प्रक्रिया परिवेश के साथ जटिल पारस्परिकता से निर्धारित होती है। किसी प्रजाति के किसी व्यक्ति का वास्तविक विकास (फेनोटाइप) कैसा होगा यह उसकी आनुवंशिकी से नियमित आंतरिक गुण पर परिस्थिति का प्रभाव कैसे काम करता है, इस पर निर्भर करेगा। इससे शरीर और स्वभाव दोनों में एक ही प्रजाति के विभिन्न व्यक्तियों में काफ़ी फ़र्क़ हो सकता है। जीन में बदलाव से अगर बदलाव वाले व्यक्ति को अपनी परिस्थिति में कोई विशेष लाभ होता है तो यह संभावना बढ़ेगी कि इस गुण वाले व्यक्ति के वंशजों की वृद्धि होगी। इसका अर्थ यह है कि जीन में हुआ यह बदलाव व्यक्ति को अधिक अनुकूलन (एडप्टेशन) की क्षमता प्रदान करता है। विकास में आनुवंशिकी और परिवेश दोनों की इस पारस्परिकता का नतीजा यह होता है कि जीवों के जीन में अद्यतन परिवेश का प्रतिनिधित्व होता है और वह नई परिस्थितियों की चुनौतियों का मुकाबला करने में सक्षम होता है।

जीवों के विकास में अनुकूलन की यही चुनौती थी जिससे अधिक विकसित जीवों में प्रशिक्षण की प्रक्रिया शुरू हुई और इसी की परिणति मनुष्य के जटिल और समृद्ध सांस्कृतिक विकास में हुई। विकसित जीवों में अनुकूलन का अर्थ सिर्फ़ अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाना ही नहीं बल्कि प्रकृति को भी अपने जीवन के अनुकूल बनाना शामिल है—जैसे घोंसले बनाना या मनुष्य द्वारा घर, नहर, बांध आदि का निर्माण।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

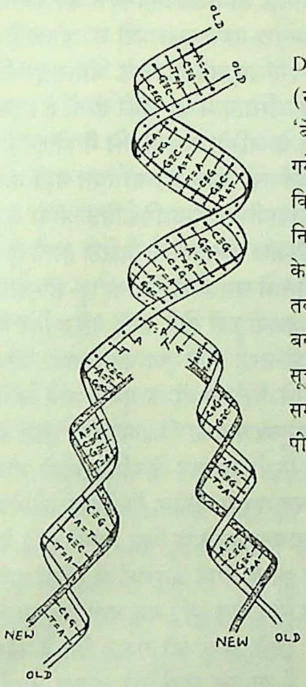

चित्र 1 : DNA के विभाजन की प्रक्रिया

DNA के अणु की कुंडलीय बनावट में A (ऐडेनीन), C (साइटोसिन), G (ग्वानीन) और T (थायमिन) नामक 'बेस' लाखों की संख्या में शृंखलाबद्ध रूप से लड़ी में पिरोये गये होते हैं। A सदैव T के विपरीत और G सदैव C के विपरीत जुड़े होते हैं। शृंखला में इन्हीं के क्रम से वे गुण निर्धारित होते हैं जो जीन द्वारा हस्तांतरित होते हैं। DNA के अणु का स्थायित्व इतना जबरदस्त होता है कि लाखों वर्ष तक हस्तांतरित होने से भी इनकी मूल बनावट नहीं बदलती। इस अणु के विविध बिंदु आनुवंशिकी से संबद्ध सूचनाओं के स्रोत होते हैं। संस्कृतियों में भी इसके समानांतर स्थायित्व का कुछ गुण होना चाहिए, अगर पीढ़ी-दर-पीढ़ी सांस्कृतिक गुणों का हस्तांतरण होना है।

आनुवंशिकी और सांस्कृतिक परंपरा

आनुवंशिकी का निर्धारण जीन के द्वारा होता है जो DNA (डी-ऑक्सीराइबो न्यूक्लिक एसिड) से बनते हैं। वंशगत सूचना के वाहक DNA के अत्यंत ही विशाल कुंडलाकार अणु होते हैं जिनमें दसों लाख परमाणु जुड़े होते हैं। इनकी बनावट में विलक्षण स्थायित्व होता है, जिसके कारण ये उन सूचनाओं को, जिनसे आनुवंशिकी का निर्धारण होता है, लाखों वर्ष तक हस्तांतरित होते रहने के बावजूद संजोये रखते हैं। इसी से यह संभव होता है कि किसी भी प्रजाति के व्यक्तियों के गुण उनके वंशजों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहें। अगर यह सूचना स्रोत नहीं रहें तो जीवों का विघटन हो जाय और उनको बनाने वाले परमाणु परिवेश में बिखर जाएँ। मानव समाज में लोगों के व्यवहारों का एक स्तर पर निर्धारण कर समाज को आकार देने में संस्कृति द्वारा सूचनाओं के संप्रेषण की वही भूमिका है जो दूसरी प्रजातियों के व्यवहारों के निर्धारण में जीन की। अतः जीन की तरह संस्कृति में भी सूचनाओं को संजोये रखने की क्षमता होनी चाहिए। यह क्षमता संस्कृतियों में उनकी परंपरा से अर्जित है। लेकिन परंपरा में ऐसा स्थायित्व आना तभी संभव है जब मनुष्य की आनुवंशिकी में परंपराओं से अचल रूप से बंधे रहने का रुझान मिले। मनुष्य के व्यवहारों के अध्ययन से यह स्पष्ट दिखाई देता है कि उसमें अपने समूह से दी गई नसीहत को आँखें बंद कर पालन करने का रुझान होता है। अपने समूह के प्रति अंध वफादारी होती है तथा जिन बातों में वह प्रारंभिक वर्षों में प्रशिक्षित हो जाता है उन्हें वाद-विवाद से परे मान जीवन भर ढोता है। सामाजिक नियंत्रण को कबूल करने का यह अंतर्भूत दबाव इतना जबरदस्त होता है कि इसको नकारने से आंतरिक तनाव और मनोरोग की उत्पत्ति होती है। इसी जन्मजात मानसिकता के कारण मानव समाज के एक ढाँचे का निर्माण होता है जिसमें हर बिन्दु पर स्थित लोगों की निश्चित भूमिका होती है जिसे वे निभाते हैं। वैसे असामान्य समय में जब किसी उत्तेजना के कारण यह आंतरिक नियंत्रण कमजोर पड़ जाता है या ध्वस्त हो जाता है तब भीड़ की मानसिकता पैदा होती है और सामाजिक ढाँचा और उसके नियंत्रण टूट जाते हैं—भगदड़ में या दंगों के काल में यह स्थिति दिखाई देती है। उसमें सामाजिक ढाँचा टूट कर भीड़ के रूप में बिखर जाता है।

१

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सहज प्रवृत्ति से बढ़ कर संस्कृति तक आने के पीछे जीवों के जीवनवृत्त की अवधि की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। अनेक कीटाणुओं का जीवनवृत्त महज कुछ घंटों का होता है। लेकिन इन के प्रजनन की गति अति तेज होती है। इसलिए चंद दिनों के भीतर इनकी संख्या विशाल हो जाती है और इनकी अनेक पीढ़ियाँ अस्तित्व में आ चुकी होती हैं। इस कारण जीन में उत्परिवर्तन (म्युटेशन) और अनुकूलन के जरिये अल्प अवधि में ही इनकी बनावट और व्यवहार में परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन हो जाते हैं। जो ऐसा नहीं कर पाते हैं उनका लोप हो जाता है। इसके विपरीत स्तनपायी या अन्य विकसित जीवों का जीवनवृत्त दीर्घकालिक होता है, संतान कम होती है और बनावट भी जटिल होती है। इसलिए इनकी आनुवंशिकी में बहुत बड़े परिवर्तन होने में समय का पैमाना भू-शास्त्रीय काल का होता है—यानी धरती की बनावट और जलवायु में होने वाले परिवर्तनों से काल की दृष्टि से तुलनीय होता है। धरती के युगों की तरह ही मनुष्य की बनावट और व्यवहार में आमूलचूल परिवर्तन भी लाखों वर्ष ले लेते हैं। मानवों के पूर्वज माने जाने वाले आदिमानव (ऑस्ट्रालोपिथेकस) से आधुनिक मनुष्य तक के विकास में ही तीस से चालीस लाख वर्ष लग गये। इसलिए आनुवंशिकी पर निर्भर रह कर विकसित जीवों और विशेषकर मनुष्य की प्रजाति परिवेश में हो रहे तेज बदलाव में अधिक दिनों तक जीवित नहीं रह सकती थी। इसी कारण नयी स्थितियों का सामना करने के लिए अपनी बुद्धि के प्रयोग का गुण इन जीवों में विकसित हुआ। साथ ही इन में अपने अनुभवों से सीखी गयी बातों को अपने वंशजों को सिखला सकने की क्षमता विकसित हुई। यह आम अनुभव है कि जहाँ बंदूक से शिकार होता है वहाँ कौवे जल्दी इसके ख़तरे को समझ लेते हैं और धीरे-धीरे सभी कौवे बंदूक देखते ही भागने लगते हैं या इस ख़तरे की सूचना अपनी आवाज और व्यवहार से देने लगते हैं। यह ज्ञान निश्चय ही उनकी आनुवंशिकी से नहीं मिला होगा क्योंकि बंदूक से कौवों का साक्षात्कार हाल का ही है। जीन-वैज्ञानिक थियोडोसियस दौबझांस्की का तो यहाँ तक मानना है कि मानवीय जीन ने मनुष्य के विकास में अपनी भूमिका का समर्पण कर दिया है।

इसका अर्थ यह नहीं कि आनुवंशिकी की भूमिका एकदम ख़त्म हो गयी है। प्रथम तो यह कि स्वयं संस्कृति और इससे नियंत्रित होने का गुण मानव आनुवंशिकी से ही आता है। सबसे महत्त्वपूर्ण गुण तो बड़ों और समूह से सीखी गयी राह पर आँख बंद कर चलना होता है। इससे जीन के समानांतर सांस्कृतिक परंपराओं में भी स्थायित्व आता है जिससे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सीखी गयी बातों का पूरे भावावेश से अनुसरण किया जाता है। संस्कृति से नियंत्रित होने का मनोभाव मनुष्य का विशिष्ट गुण है। अगर ऐसा नहीं होता तो सभी जीवों में मनुष्य जैसी सक्षम संस्कृति विकसित होती। सूचनाओं के संप्रेषण की विविध विधियाँ भी स्वयं मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की विशेष बनावट पर निर्भर करती हैं। इसके अलावा मनुष्य के शरीर के अनेक कार्यकलाप हैं जो स्वतः स्फूर्त ढंग से होते रहते हैं और उन पर सोच-समझ कर नियंत्रण नहीं होता—उदाहरण के लिए पाचन क्रियाएँ। इसी तरह आकार की अनुभूति या ऊँचाई से गिरने का भय आदि मनुष्य में जन्मजात है ऐसा मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगों से ज्ञात होता है। दरअसल मनुष्य की विशिष्ट आनुवंशिकी ही वह आधार प्रदान करती है जिस पर मानव संस्कृति की इमारत खड़ी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होती है। लेकिन आनुवंशिकी की भूमिका इस अर्थ में ज़रूर गौण हो गयी है कि प्रकृति और समाज द्वारा रोज-ब-रोज उपस्थित की जाने वाली चुनौतियों का सामना मनुष्य अपनी संस्कृति से प्राप्त गुणों द्वारा ही करता है। उससे उसके व्यवहार पर सदा दो तरह के दबाव बने रहते हैं। एक दबाव है उसकी आनुवंशिकी से प्राप्त आदिम मन का और दूसरा उसके नये मन का, जिसका विकास उसकी संस्कृति की देन है। बहुत व्यवहार ऐसे होते हैं जो असल में सहज प्रवृत्ति से पैदा होते हैं लेकिन उन पर संस्कृति का मुलम्मा या मुखौटा चढ़ा होता है। इन विपरीत दबावों के कारण आधुनिक मनुष्य में अनेक तरह के मनोरोग पैदा होते हैं। अगर हम साइको-एनालिटिक धारा के मनोवैज्ञानिकों की बातों को मानें तो आदिम प्रवृत्तियों का संस्कृतिजन्य संस्कारों से दमन का ही नतीजा हमारे मनोरोग हैं। इस तरह रोगों का शिकार हो हम सुसंस्कृत होने की कीमत चुकाते हैं। अगर हम इस हद तक संस्कृति के लिए स्वाभाविक मनोवृत्तियों का दमन करना ज़रूरी समझते हैं कि मनोरोग तक का शिकार बन जाएँ तो निश्चित रूप से संस्कृति का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण योगदान हमारी प्रजाति के अस्तित्व के लिए रहा होगा।

इस पृष्ठभूमि में हम फिर सूचनाओं के संप्रेषण की एक विशिष्टता की चर्चा ज़रूरी समझते हैं। हम ऊपर चर्चा कर चुके हैं कि जीवों के संरचनात्मक संगठन और व्यवहारों का नियामक उनके जीन में उपलब्ध सूचना स्रोत हैं जो विभिन्न स्थितियों में उपलब्ध संसाधनों के अनुसार उन्हें क्रियाशील कर आवश्यक आकार और व्यवहार के लिए प्रेरित करते हैं। ये जीन अपेक्षाकृत स्थायी होते हैं और इसीलिए अनेकानेक पीढ़ियों तक पूर्वजों द्वारा हस्तांतरित हो विशेष तरह का रूप और स्वभाव किसी प्रजाति को प्रदान करते हैं। जीन की एक विशेषता यह है कि यह सूचना का स्रोत होने के कारण जीव का निर्माण करता है लेकिन यह स्वयं जीव नहीं है। जीवों के कोष्ठ में अवस्थित DNA कोष्ठ में उपलब्ध रसायनों का उपयोग कर एक अन्य अणु RNA का निर्माण करता है जो इसकी सूचनाओं को ढोकर इसके अनुसार प्रोटीनों का निर्माण करते हैं। ये ही विभिन्न बिन्दुओं पर सक्रिय हो जीव को उनकी प्रजाति के अनुसार आकार देते हैं। एक तरह से बिना स्वयं जीव हुए यह जीव-निर्माता की भूमिका निभाता है। यह सब सूचनाओं का खेल है और असल में जीन विशाल मात्रा में सूचनाओं का धारक भर होता है। आगे हम देखेंगे कि संस्कृति भी समाज-निर्माण में इसी तरह की भूमिका निभाती है।

अगर जीव सिर्फ़ अपने अनुभवों और बुद्धि के आधार पर कार्य करने लगे तो व्यक्तिगत रूप से वह दिशाहीन और अनियंत्रित होगा। क्योंकि उसके पास दिशा देने के लिए पूर्वकालिक अनुभवों या आसपास के समकालीन परिवेश की कोई जानकारी नहीं होगी। यह स्थिति एक ऐसे भटकाव की होगी जिसमें जीवन असंभव हो जायेगा। लेकिन यह एक काल्पनिक स्थिति ही है। वास्तव में कोई विकसित जीव कभी इस तरह की एकल स्थिति में नहीं रह सकता। व्यक्ति का जन्म सदा किसी समूह में होता है। मनुष्य का जन्म उसके परिवार और समुदाय के भीतर होता है। इसमें एक संस्कृति होती है जो परिवार, समुदाय और मनुष्य सबों को परिचालित करती है। जैसा सूचना स्रोत जीवों के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

शरीर में उसके जीन होते हैं वैसा ही सूचना स्रोत मानव समुदाय में इसकी संस्कृति होती है। यह पीढ़ी-दर-पीढ़ी उन सूचनाओं को, जो आवश्यक हैं, संचित कर अपनी परंपरा के भीतर ढोती चलती है।

पिछली बातों का संक्षिप्त सार निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत किया जा सकता है:

1. परिवेश से पूरी तरह कटी अलग-थलग व्यवस्थाएँ अनिवार्य रूप से ह्रासोन्मुख होती हैं एवं पूर्ण विश्रृंखलन या भौतिक शास्त्र की भाषा में, अत्यधिक एंट्रोपी की ओर बढ़ती हैं।
2. व्यवस्था बरकरार रहे या विकसित हो, इसके लिए उन्हें किसी स्रोत से आवश्यक सूचनाओं का संप्रेषण अपरिहार्य है। यह बात ऊर्जा से संचालित मशीनों, जीवों और सामाजिक संगठनों, सब पर लागू होती है।
3. मशीनों को आवश्यक सूचना उसके निर्माताओं से, उसकी बनावट से प्राप्त होती है, जीवों में उनके जीन से और मानव संगठनों और मनुष्य के व्यवहारों में संस्कृति से।[1]
4. जीन और संस्कृति दोनों अपने-अपने ढंग से परिवेश को प्रतिबिंबित करते हैं। इसी से जीव या सामाजिक संगठन परिवेश में पैदा किसी भी स्थिति का मुकाबला करने में सक्षम हो पाते हैं। अनुकूलन की प्रक्रिया से जीन या संस्कृति में परिवेश में हुए बदलाव के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं।
5. ऊपर की बातों से यह निष्कर्ष निकालना ग़लत होगा कि समाज का अस्तित्व भी जीवों जैसा ही है यानी यह भी एक जीव ही है, जैसा कि कुछ लोग भ्रमवश सोचते हैं। दोनों के कार्यकलाप में अगर समानता दिखाई देती है तो इसलिए कि दोनों सूचना संसार की समान प्रक्रिया से निर्मित और परिचालित होते हैं।
6. एक दूसरी समानता जीन और संस्कृति में यह है कि वे क्रमशः जीव एवं सामाजिक संगठन का निर्माण तो करते हैं पर स्वयं इस तरह निर्मित जीव या संगठन नहीं होते, बल्कि संकेन्द्रित संकेत स्रोत भर होते हैं। उदाहरण के लिए एक मोटरगाड़ी संस्कृतिजन्य है लेकिन यह संस्कृति नहीं है या एक काव्य संस्कृतिजन्य है पर स्वयं संस्कृति नहीं है।

---

1. यहाँ विख्यात नृशास्त्री क्लोद लेवी स्ट्रॉस का एक उद्धरण सूचना संप्रेषण और संस्कृति के संबंधों पर प्रकाश डालने के लिए उपयोगी होगा। वे लिखते हैं: 'समाज या संस्कृति को भाषा में तब्दील किये बगैर हम इस कोपरनिकस जैसी वैचारिक क्रान्ति की शुरूआत नहीं कर सकते हैं जो पूरे समाज को संप्रेषण के सिद्धान्त की अभिव्यक्ति के रूप में देखता है। यह प्रयास तीन स्तरों पर संभव है: विवाह और कौटुम्बिक संबंध समूहों के बीच औरतों के आदान-प्रदान पर आधारित है, ठीक वैसा ही जैसा आर्थिक नियम इनके बीच वस्तुओं और सेवाओं का आदान-प्रदान, और भाषाई नियम संवादों का आदान-प्रदान सुनिश्चित करता है।'

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : दो

अमरत्व की तलाश

अगर संस्कृति मनुष्य के लिए वही भूमिका निभाती है जो आनुवंशिकी से प्राप्त सहज प्रवृत्ति अन्य जीवों के लिए तो फिर इसका भी मूल उद्देश्य वही होना चाहिए जो अन्य जीवों में जीन से प्राप्त सहज प्रवृत्ति का होता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, जीन प्राकृतिक चयन की प्रक्रिया में जीवों को अनुकूलन की क्षमता प्रदान करता है और इस तरह प्रजातियों को विनष्ट होने से बचाता है। प्रजातियों के जीवित रहने का अर्थ होता है उनके जीनों का भी पुश्त-दर-पुश्त लाखों वर्षों तक अस्तित्व में बना रहना। अक्सर इस प्रक्रिया में जो परवर्ती जीव विकसित होते हैं वे अपने जीनों में अनेक पूर्ववर्ती प्रजातियों के जीनों को परिवर्तित या परिवर्धित रूप में सहेज कर रखते हैं। एक तरह से विकास की ऊपरी सीढ़ियों पर अवस्थित जीवों द्वारा जीन का संरक्षण अमरत्व की तलाश है। इसलिए संस्कृति की मूल भूमिका अमरत्व प्रदान करना ही हो सकती है।

एककोष्ठीय जीवों में अनुकूल पोषक तत्त्व और परिस्थिति मिलने पर मृत्यु नहीं होती। प्रौढ़ होने पर विभाजन द्वारा एक से दो, दो से चार करके वे लगातार अपनी संख्या बढ़ाते चले जाते हैं। जन्म, जरा, मृत्यु का वृत्त उन्हें आक्रान्त नहीं करता। यह विकसित जीवों के कोष्ठों और अंगों के कार्य विभाजन एवं संरचनात्मक संगठन का परिणाम है कि बुढ़ापा और मृत्यु उनकी अनिवार्य नियति बन जाती है। विकास की प्रक्रिया में प्राकृतिक चयन के साथ कौटुम्बिक चयन (किन सेलेक्शन) की भी प्रक्रिया चलती है जिस प्रक्रिया से एक ही प्रजाति के जीव अपनी प्रजाति के भीतर अपने जीन का बाहुल्य स्थापित करते हैं। इसमें वे अपने कुटुम्बियों की इस तरह सहायता करते हैं कि वे प्रजाति के इतर वंश के व्यक्तियों से जीवन-संघर्ष में ज़्यादा सफल हों। कुटुम्बियों में भी आंशिक रूप से किसी व्यक्ति के जीनों की मौजूदगी होती है, क्योंकि उनके पूर्वज एक ही होते हैं। अतः अगर वे कुटुम्बियों के लिए अपने जीवन का बलिदान भी कर दें तो इसकी संभावना रहती है कि उनके जीनों में कुछ बचे रह जायेंगे। इसी का विस्तार फिर अपनी प्रजाति के ग़ैर-कौटुम्बिक सदस्यों की रक्षा के लिए आत्मबलिदान की भावना में होता है। विडम्बना यह है कि यह परोपकार अब समूह में शिकार करने वाले जीवों—जैसे भेड़ियों में और शिकार का जीवन अपनाने वाले आदिमानवों में अधिक विकसित होता है।[1]

1. नृशास्त्री रौबर्ट आडरि ने अपनी पुस्तक 'द हंटिंग हाइपोथिसिस' में शिकार पर मनुष्य की निर्भरता से सहयोग की भावना के आविर्भाव और इससे अनेक मानवीय गुणों के विकास की प्रक्रिया या विस्तृत विवरण दिया है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस तरह अपने जीन को अमरत्व देने की अन्तर्निहित अभिलाषा जीवों में परमार्थ भाव—यानी दूसरों के लिए आत्मबलिदान करने के भाव को जन्म देती है। कोई अचरज नहीं कि मानव संस्कृति में परमार्थ भाव को सब से उदात्त मूल्य के रूप में प्रस्थापित किया गया है। भारत में तो कुछ मनीषियों ने परमार्थ को ही पुण्य और परपीड़ा को सब से जघन्य पाप कहा है। इस तरह अपने कुटुम्ब और समुदाय से बढ़ कर संपूर्ण मानव प्रजाति के लिए आत्मबलिदान की भावना अंततोगत्वा मनुष्य के अपने अमरत्व की अभिलाषा की अभिव्यक्ति ही दिखाई देती है जो संस्कृतिजन्य प्रतीकों और परम्पराओं से लोगों की भावना का अंग बन जाती है। अपने जीनों अथवा स्थूल स्तर पर बीज या शुक्र की रक्षा के यत्न निम्न स्तर से लेकर अत्यधिक विकसित जीवों तक में अमरत्व की तलाश है। मानव संस्कृति में इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विकसित क्रियाकलाप या तो इस उद्देश्य को गरिमामंडित करते हैं अथवा इसे इस सीमित उद्देश्य से परे ले जा कर एक स्वप्निल संसार का निर्माण करते हैं। इसमें रूमानी प्रेम प्रसंगों से लेकर भारतीय दर्शन, विशेषकर बौद्ध दर्शन के समदर्शी भाव का उदय होता है जिसमें कीट से लेकर मनुष्य तक सभी के प्रति समान करुणा की अभिव्यक्ति है।

अपने जीनों को सुरक्षित कर अगली पीढ़ियों में स्थानांतरित करने के दबाव में जीव अनेक तरह के संबंध अपनी प्रजाति के भीतर या दूसरी प्रजातियों से स्थापित करते हैं। किसी प्रजाति के भीतर के ऐसे संबंध को जीव वैज्ञानिक यौन चयन की प्रक्रिया कहते हैं। अनेक पशुओं के नर की बनावट में विभिन्न तरह की सजावट या उनकी आवाज के विविध गुण अपनी प्रजाति की मादा को आकर्षित करने के लिए ही होते हैं। कुछ ख़ास प्रजाति के बारहसिंगों में सींग की शाखादार विशालता के पीछे मादा को अपनी शक्ति का एहसास कराने का उद्देश्य ही प्राणी शास्त्रियों द्वारा बतलाया जाता है, हालाँकि इससे उनके लिए जीवन संघर्ष में कठिनाई ही पैदा होती है। इस दिखावे से प्रजाति के दूसरे नर पशुओं से वास्तविक शक्ति परीक्षण की नौबत टल जाती है। आवाज की भारी भरकम गुर्राहट भी यही भूमिका अदा करती है। इससे मादा को यह अंदाज होता है कि आवाज करने वाला नर अधिक कद्दावर या बलिष्ठ है और वह उसकी सहगामिनी बन जाती है। नर पक्षियों के परों के आकर्षक विविध रंग और कलंगी की भी यही भूमिका होती है। पक्षियों की आवाज में सुरीले स्वरों का उत्स भी यही बतलाया जाता है। एक ही प्रजाति के पक्षियों में, जहाँ बहुत सारे पक्षी एक जगह रहते हों, स्वरों की विशिष्टता पहचान के लिए आवश्यक बन जाती है। इस स्थिति में एक जोड़ी के नर-मादा एक-दूसरे को पहचानने के लिए अपनी आवाज को अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों की आवाज से थोड़ा भिन्न बनाते हैं। पक्षियों का अध्ययन करने वाले प्राणी शास्त्री डब्ल्यू.एच. थॉर्पे और एम.ई.डब्ल्यू. नॉर्थ ने पक्षियों की जोड़ियों के संगीत संवादों का रेकार्ड भी किया है। इसमें किया गया ध्वनि अंकन मानव संगीत के ध्वनि अंकन स्केल में फिट करता दिखाई देता है। संभवतः इसी प्रक्रिया से कुछ पक्षियों में मनुष्य के स्वर और संगीत समेत विभिन्न तरह की आवाजों की नकल करने की क्षमता विकसित हुई है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इसका रोचक वर्णन एस.ए. बार्नेट ने किया है।[1] संभव है हमारे अपने संगीत का उत्स भी कुछ इसी तरह हुआ हो। हमारे पुराणों में कृष्ण की बांसुरी की धुन से गोपियों के मुग्ध हो नाचने की कथा उल्लिखित है और सैकड़ों वर्षों तक कवियों और गायकों की रचना के लिए प्रेरणा का स्रोत रही है। पशुओं में मादा के लिए प्रतिस्पर्धा का धनात्मक पहलू प्राणी शास्त्री यह बतलाते हैं कि इससे प्रजाति का सब से समर्थ व्यक्ति ही अपनी संतान वृद्धि करता है और इस तरह पैदा सक्षम संतान से जीवन-संघर्ष में पूरी प्रजाति की सफलता की संभावना बढ़ती है।

मनुष्यों में भी निजी वंशवृद्धि की ऐसी कामना रहती है। लेकिन मानव जीवन में शरीर के डीलडोल और शक्ति की भूमिका उसके विकास के साथ-साथ नगण्य होती चली जाती है। इसके साथ ही मानव समाज इतना वैविध्यपूर्ण बनता जाता है कि व्यक्तित्व का कोई एक आयाम जीवन की सफलता के लिए सर्वोपरि महत्त्व का नहीं रह जाता। इसलिए विविध संस्कृतियों ने नर-नारी के चुनाव के लिए अनेक तरह की प्रथाएँ जारी की हैं। फिर भी विभिन्न संस्कृतिजन्य प्रतीकों, साज-सज्जा, वाक्पटुता, संपत्ति या सामाजिक प्रतिष्ठा और सत्ता का प्रदर्शन कर आधुनिक नर भी अपनी प्रजाति की मादा को आकर्षित करने का प्रयास करता है। हमारी अपनी प्राचीन कथाओं में वर्णित वर के चुनाव की कुछ विधियाँ ज़रूर ऐसी थीं जिनमें अप्रत्यक्ष रूप से शारीरिक शक्ति और क्षमता की तुलना ही निर्णायक होती थी। जैसे सीता के स्वयंवर की कथा, जिसमें शिव के धनुष को उठाने वाले व्यक्ति के साथ ही सीता का विवाह होना था। ऐसा ही द्रौपदी का स्वयंवर था, जिसमें धनुर्विद्या में महारत वह कसौटी थी जिससे तय होना था कि द्रौपदी का पति कौन बनेगा। इस तरह प्राचीन काल में, सहज प्रवृत्ति पर आधारित अन्य जीवों और संस्कृति पर आधारित मनुष्य की वंशवृद्धि के लिए नर-नारी के चयन में अपनायी गयी विधियों में समानता दिखायी देती है। लेकिन आज कोई यह नहीं कह सकता कि शरीर से बिलकुल लाचार, व्हील-चेयर से बंधा महान वैज्ञानिक हॉकिंस मानव विकास के लिए किसी ओलिम्पिक विजेता से कम महत्त्व का है। सच तो यह है कि मानव समाज के विकास के लिए ओलिम्पिक विजेताओं का योगदान शून्य है। ओलिम्पिक तो प्राचीन काल के यूनान के एक आदिम धार्मिक अनुष्ठान की नकल भर है जिसका आधुनिक समाज में कोई अर्थ नहीं। यह इतना ही करता है कि आधुनिक सभ्यता के कारण अपनी आदिम जड़ों से कटे मनुष्यों की जड़ों को पाने की भूख को मिटाता है।

जीनों को सुरक्षित कर वंशवृद्धि की यह प्रक्रिया अति वैविध्यपूर्ण है। कहीं यह अत्यंत ही सहयोगमूलक होती है तो कहीं प्राणघातक। पहले का एक उदाहरण धनेश पक्षी का है जिसमें मादा अंडे देने के समय किसी पेड़ के तने के सूराख में मुँह बाहर कर बैठ जाती है। नर उसके गले तक मिट्टी आदि का लेप लगाकर सूराख बंद कर देता है। अंडे देने के पूरे काल में नर मादा के लिए भोजन जुटाता है। बाद में जब बच्चे निकल

---

1. S.A. Barnett, Instinct and Intelligence : The Behaviour of Animals and Man, Pelican Books, 1967, p. 130-31.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आते हैं, लेप हटाकर नर और मादा बच्चों का भरण-पोषण करते हैं। इसके विपरीत प्रेयिंग मैन्टिस नामक पतिंगों में संभोग की समाप्ति पर मादा नर को खा जाती है। इसमें नर तो मर जाता है लेकिन उसके जीन सुरक्षित रहते हैं। इसी तरह जुगनुओं की कुछ प्रजातियों के नर मादा की तलाश में एक मिलती-जुलती दूसरी प्रजाति (फोटुरिश प्रजाति) की मादा जुगनुओं का भोजन बन जाते हैं। फोटुरिश नामक जुगनुओं की शिकारी मादाएँ, अन्य प्रजाति के नर जुगनुओं द्वारा अपनी प्रजाति की मादाओं की तलाश के लिए दिये जाने वाले प्रकाश के संकेत का ऐसा जवाब देती हैं कि नर जुगनुओं को यह भ्रम हो जाता है कि उन्हीं की प्रजाति की कोई मादा है। लेकिन जब वे मादा के पास आते हैं तो वह उनका शिकार कर उन्हें खा जाती है। इन सब में जो एक बात शामिल है वह है अपने जीनों का भविष्य सुरक्षित रखने के लिए हर तरह का सहयोग देने या जोखिम उठाने की तत्परता। सारा जीव-संसार जोखिम भरे या अचरज भरे ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

मनुष्यों में भी जीनों को सुरक्षित रखने का यह दबाव विभिन्न रूपों में दिखाई देता है। लेकिन संस्कृति के हस्तक्षेप से इनके अनेक रूप स्थान और काल के अनुरूप दिखाई देते हैं। भारत में ब्रह्मचर्य पर जोर शुक्र रक्षा की इसी चिंता की अभिव्यक्ति थी जो यहाँ के सभी प्राचीन धर्मों में दिखाई देती है और आत्मसंयम का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानी जाती रही है। अन्य देशों में भी संततिवाद एवं इसकी रक्षा महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। आज के युग में भी कैथोलिक गर्भनिरोध को अधार्मिक मानते हैं।

दुनिया के अधिकांश मानव समूहों में परिवार प्रेम किसी न किसी रूप में 'किन सेलेक्शन' की जैविक प्रक्रिया की ही अभिव्यक्ति है। लेकिन इससे आगे बढ़ कर यह भावना वृहत् परिवार, जैसे कबीला, संप्रदाय एवं राष्ट्र की भावनाओं में व्यक्त होती है जिसका सीधा संबंध निजी जीन की सुरक्षा से नहीं बल्कि एक विस्तृत मानव समुदाय की सुरक्षा से होता है। इसी की एक ऊँची अभिव्यक्ति संपूर्ण मानव वंश या मानव प्रजाति की सुरक्षा की चिंता में होती है। यह सब मनुष्य का भाषा के माध्यम से काल्पनिक लोकों का निर्माण करने की क्षमता का परिणाम होता है।

लेकिन निजी अमरत्व प्राप्त करने की इच्छा का एक स्थूल रूप भी रहा है जो संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है। इसकी अभिव्यक्ति कब्रों में मनुष्य के शव को सुरक्षित रखने या मृतक के शरीर के अवशेषों या राख को सुरक्षित कर उस पर स्मारकों के निर्माण करने की परंपरा है। मृतकों के शव को कब्र में रखने की प्रथा तो हमारे पूर्वजों से मिलते-जुलते एक दूसरे आदि-मानव परिवार, नियंडरथलों में भी प्रचलित थी, ऐसे प्रमाण नृशास्त्रियों को मिले हैं। लेकिन उस आदि-मानव परिवार का लोप आज से चालीस-पचास हजार वर्ष पहले हो गया। लेकिन हमारे आदि-मानव पूर्वजों से लेकर हमारे समकालीन मनुष्यों तक में शरीर या अस्थि को सुरक्षित कर अमरत्व पाने की लालसा उत्कट रूप से दिखायी देती है। जो प्रभुतासंपन्न लोग थे उनकी कब्रों पर आलीशान भवनों, स्तूपों या पिरामिडों का निर्माण किया गया, उनके समय में उपलब्ध सभी तरह के अलंकारों एवं उपकरणों से उन्हें सज्जित किया गया। मिस्र के पिरामिड, बौद्धों के स्तूप

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और शहंशाहों के मकबरे सैकड़ों और हजारों वर्षों से अमरत्व की तलाश की अभिव्यक्ति बने खड़े हैं। इनसे वे महानुभाव, जिनके निमित्त ये स्मारक निर्मित हुए, अमर हुए हों या न हुए हों, लेकिन ये अपने-अपने काल के स्थापत्य और अन्य कला-कौशलों एवं दूसरी जीवनोपयोगी वस्तुओं का रेकार्ड छोड़ गये हैं जिनसे हम उनके समकालीन जीवन और संस्कृति की झाँकी पाते हैं। दिलचस्प बात यह है कि बौद्ध ऐसे स्तूपों के निर्माण में अग्रणी रहे, जबकि उनके धर्म में निर्वाण की कल्पना इच्छाओं के साथ आत्मा के विलीन हो जाने की है। यह हमें बतलाता है कि अमरत्व की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि आत्मा का क्षय तो कबूल होता है लेकिन संसार में निजी या प्रिय पुरुषों की स्मृति का लोप नहीं। हिन्दुओं में ऐसे स्मारकों की परंपरा नहीं रही क्योंकि उनमें आत्मा के अमरत्व का विश्वास था जो कहीं न कहीं, किसी न किसी रूप में सदैव जीवित है, चाहे स्वर्ग में हो, नरक में हो, चाहे पुनर्जन्म से किसी और जीव के रूप में। लेकिन अमरत्व पाने की इन प्रतीकात्मक संभावनाओं के बावजूद सभी धर्मों के मानने वाले जन-साधारण में वंशवृद्धि के जरिये निजी अमरत्व की इच्छा ही सबसे अधिक व्यापक रही है।

लेकिन निजी जीनों की सुरक्षा की चिंता भी सभी मानव समुदायों में अलग-अलग रूपों में कभी-कभी अत्यंत ही विकृत रूप में होती है। मनुष्य की आनुवंशिकता में मादा के जीनों का भी उतना ही अंश है जितना नर के जीनों का, यह ज्ञान बहुत हाल का है।[1] इसलिए जीन की सुरक्षा का अर्थ पुरुष के जीनों की सुरक्षा या पुरुष के वंश की विशिष्टता मानी जाती थी। इसलिए वंश की शुद्धता यानी परिवार में दूसरे पुरुषों के जीनों के प्रवेश के निषेध के लिए औरतों के यौन संबंधों को नियमित करने के भांति-भांति के उपाय दुनिया के अलग-अलग भागों में किये जाते रहे हैं। औरतों पर लगी बंदिशों के पीछे निश्चित रूप से पुरुषों का अपने जीनों की सुरक्षा का भाव रहा है। विडम्बना है कि जैव विज्ञान की क्रोमोसोम संबंधी नई और निश्चित जानकारियों के बावजूद अभी भी इस दृष्टि में कोई ख़ास परिवर्तन नहीं आया है। दूसरे पशुओं में सहज प्रवृत्ति से प्रजाति के सशक्त व्यक्ति मादा पर एकाधिकार स्थापित कर प्रजाति के दूसरे व्यक्तियों के जीनों को बहिष्कृत कर अपने जीनों के प्रसार को सुनिश्चित करते हैं। इस तरह जीन द्वारा अमरत्व हासिल करने के अन्य प्रजातियों के सहज प्रवृत्तिजन्य व्यवहार और मानव के संस्कृतिजन्य व्यवहार में व्यापक निरंतरता दिखायी देती है।

एक बात ग़ौरतलब है। भोजन प्राप्त करने और सुरक्षा सुनिश्चित करने के बाद जीवों का सब से अधिक समय प्रजनन प्रक्रिया और संतति की रक्षा के इर्दगिर्द लगता है। मानव संस्कृति में तो प्रजनन प्रक्रिया एक ऐसी धुरी का काम करती है जिसके इर्दगिर्द अनेक सामाजिक संबंधों का ताना-बाना बुना होता है। इससे भी आगे बढ़ कर नर-मादा के संबंध और जननेन्द्रियाँ कला, साहित्य एवं धर्म सभी में केन्द्रीय स्थान ग्रहण कर

1. अब यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जीव की बनावट में नर और मादा दोनों के जीनों की समान भागीदारी होती है। यौन-मिलन के समय एक क्रोमोसोम नर का और एक मादा का मिलकर संतति के क्रोमोसोम का निर्माण करते हैं। इस तरह संतान में मातृवंश और पितृवंश दोनों ओर से प्राप्त जीन समान रूप से उसके विकास को निर्धारित करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लेते हैं। शायद सब से प्राचीन मानव मूर्ति चूने के पत्थर में गढ़ी गयी औरत की है जो विलेंडॉर्फ (ऑस्ट्रिया) में पायी गयी है। (चित्र 2 ख) 18000 वर्ष पुरानी इस मूर्ति में सब से प्रमुख स्थान जननेन्द्रिय एवं स्तनों का है। मुँह की कोई आकृति नहीं है। हाथों की उपस्थिति भर अंकित है। सबसे प्रमुख भाग जो अत्यंत फैला हुआ है, वक्ष से घुटनों तक का है जिसमें नारी आकृति को अत्यंत ही सशक्त और वास्तविकतापूर्ण ढंग से गढ़ा गया है। संभवत: इस मूर्ति का संबंध प्रजनन से जुड़े किसी धार्मिक अनुष्ठान से रहा हो। अफ्रीका की कला में तो आज भी जननेन्द्रियों की प्रमुखता बरकरार है। यहूदी परंपरा के यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म में शायद अदन के बाग में दिये गये शाप के कारण यौन संबंधों पर ज़रूर वर्जना का और वास्तविक दोनों तरह का परदा डाल दिया गया है। कुछ इस्लामी देशों में औरतों को परदे में रखने का आग्रह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति को दबा कर रखने का अतिवादी प्रयास ही है। इसके विपरीत भारत में शिवलिंग की पूजा का अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इससे भी बढ़ कर शाक्तों के तांत्रिक संप्रदाय में यौन संबंध को धार्मिक अनुष्ठान का केन्द्रीय तत्त्व मान लिया गया है। कला के क्षेत्र में तो भारत में मिथुन जोड़ियों की भरमार है, जो प्राय: बौद्धों के विहारों और चैत्यों और हिन्दुओं के मंदिरों के द्वारों और बाहरी भागों को सुशोभित करती हैं। कोणार्क, खजुराहो, भुवनेश्वर आदि में यौन संबंधों की उत्कीर्ण मूर्तियों का बाहुल्य और खुलापन भारतीय परंपरा से अपरिचित लोगों को अचंभे में डाल देता है।

चित्र 2

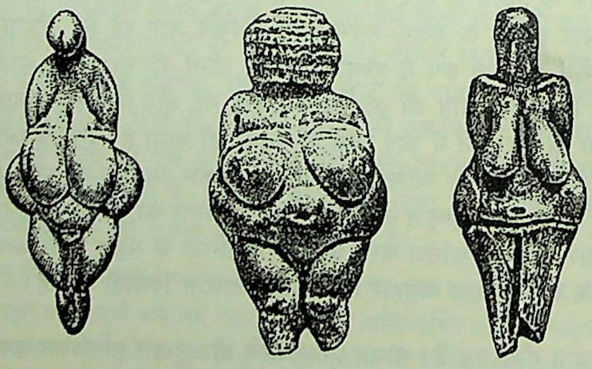

(क) (ख) (ग)

ऊपरी प्राचीन प्रस्तर युग की लघु आकार की मूर्तियाँ।

(क) लेस्पर्ज, फ्रांस की हाथी दांत की 5¾ इंच की मूर्ति।

(ख) विलेंडॉर्फ, ऑस्ट्रिया की चूने पत्थर की 4½ इंच की मूर्ति।

(ग) वेस्टोनिस, चेकोस्लोवाकिया की 4½ इंच की हड्डी की मूर्ति।

प्राचीनतम मानव मूर्तियों में जननेंद्रियों और शिशुओं को पोषण करने वाले स्तनों की आकृति का केन्द्रीय स्थान होता था। ऊपर के चित्र में (ख) वीनस ऑफ विलेंडॉर्फ की मूर्ति में ऐसी अभिव्यक्ति विशेष तौर से दिखाई देती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पशुओं में भी नर-मादा संबंध विविध कर्मकाण्डों से जुड़े होते हैं। मनुष्य के निकट रहने वाले पक्षी कबूतर के जोड़ों में या बरसात के पहले जोड़ी कायम करने और घोंसले बनाने के काल में अन्य पक्षियों में हर तरफ ऐसे कर्मकाण्ड दिखाई देते हैं। लेकिन मानव संस्कृति में ऐसे नर-नारी संबंधों के कर्मकाण्ड प्रारम्भ से लेकर अंत तक जीवन के विविध चरणों में उपस्थित रहते हैं—जैसे प्रणय सम्बन्ध, मंगनी, विवाह, जन्म से जुड़े कर्मकाण्ड और अंत में मृत्यु के उपरांत के कर्मकाण्ड।

मनुष्य के यौन सम्बन्धों में अचेतन रूप से तो अपने जीनों को सुरक्षित रखने का दबाव रहता ही है लेकिन सामूहिक शिकारी के रूप में विकसित होने के कारण आदमी का शारीरिक विकास और उसकी पृष्ठभूमि में मर्द-औरत के सम्बन्धों की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति अत्यंत ही जटिल रूप ग्रहण कर लेती है। आधुनिक समाज में यह जटिलता मानव संबंधों को अति संवेदनशील तथा अन्तर्विरोधपूर्ण बना देती है। जीव वैज्ञानिक डेस्मौंड मॉरिस ने अपनी बहुचर्चित पुस्तक 'द नेकेड एप' में इन संबंधों के विविध आयामों का विस्तार से वर्णन किया है। मॉरिस की मूल स्थापना यह है कि मादा को लेकर जिस तरह की स्पर्धा अन्य स्तनपायी जीवों में होती है सामूहिक शिकारी मनुष्य वैसी स्पर्धा के बीच अपने अस्तित्व को नहीं बचा सकता था। अतः जोड़ी बना कर स्थायी परिवार बनाना उसके सामूहिक शिकारी जीवन की अनिवार्यता थी। अपनी मादा की वफादारी से आश्वस्त वह समूह के अन्य मर्दों के साथ पूरे सहयोग भाव से दूरदराज के जोखिम भरे स्थानों में जाकर शिकार कर सकता था। इसी के अनुरूप मर्द और औरत में वैसे शारीरिक गुण पैदा हुए जिससे उनका यौन संबंध पारस्परिक आकर्षण बढ़ाये और उनकी घनिष्टता को दृढ़ करता चले। इसके लिए यौन आकर्षण को बढ़ाने वाले सभी शारीरिक अंग मनुष्य के अग्रभाग में विकसित हुए—जैसे जननेन्द्रिय, स्तन, यौन आकर्षण को उद्दीप्त करने वाले होठ, दाढ़ी, मूँछ आदि। लेकिन अपने समुदायों में—आदिम समुदायों में भी—नर और नारी का सामना सदा अपनी जोड़ी में ही नहीं होता। समुदाय के उन सदस्यों से भी होता है जो नर-नारी की जोड़ी से बाहर के होते हैं। यौन आकर्षण को बढ़ाने वाले सभी कारकों के सामने होने के कारण खड़े हो दो पाँव पर चलने वाले मानव जीवों में आमने-सामने होने पर जननेन्द्रियों या यौन आकर्षण बढ़ाने वाले अंगों का साक्षात्कार अनिवार्य रूप से होता ही है। इससे जोड़ी के बाहर के सदस्यों की तरफ आकर्षण और जोड़ी के भंग होने का ख़तरा पैदा होता है। चूँकि संस्कृति का मूल उद्देश्य जीव को अपनी सुरक्षा के अनुकूल व्यवहार के लिए प्रेरित करना होता है, ऐसी स्थितियों के दबाव से बचने के लिए आदिम से आदिम मानव समुदायों में जननेन्द्रियों या यौन आकर्षण को उत्तेजित करने वाले अंगों को ढकने की परिपाटी है। इसी का विस्तृत रूप वस्त्रों के व्यवहार में देखा जा सकता है, विशेषकर वहाँ जहाँ ठंड या गर्मी से बचने के लिए वस्त्र धारण करना आवश्यक नहीं होता। मर्दों के वर्चस्व में चलने वाले जिन समाजों की स्थितियाँ ऐसी हैं कि जोड़ी की औरत की वफादारी पर भरोसे का अभाव है वहाँ औरतों को परदे में रखने की कोशिश होती है ताकि उनकी दूसरे मर्दों से सामना होने की नौबत कम से कम आये। किसी-किसी समाज के मर्दों में असुरक्षा का भाव इतना अधिक है कि औरतों की जननेन्द्रियों पर धातुओं की पट्टी या ताले तक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लगाने की परिपाटी है। इसमें जोड़ी को कायम रखने से अधिक अपनी जोड़ी की नारी पर एकाधिकार कर अपने जीनों के लिए सुरक्षित जगह रखने का संकल्प दिखायी देता है। इस एक नर और एक मादा की जोड़ी की व्यवस्था को मजबूत करने के पीछे दो उद्देश्य रहे हैं—(1) अपने जीन को सुरक्षित रख अमरत्व प्राप्त करना और (2) आखेट पर आधारित समाजों में शिकार करने वाले नरों में एक-दूसरे के प्रति सहयोग के भाव को कायम रखना।

लेकिन मानव समाज के विकास के साथ लोगों की आजीविका का आधार बदलने लगा और लोग शिकार की जगह कृषि, उद्योग एवं व्यापार आदि से आजीविका अर्जित करने लगे। इस तरह पुरुष-स्त्री की जोड़ी का आदिम आधार ख़त्म हो गया। लेकिन लाखों वर्षों में विकसित हुए शारीरिक गुण एवं मानसिक रुझान जिनसे नर-नारी का आपसी आकर्षण पनपता है और स्थायी बनता है, ख़त्म नहीं हुआ। इसी तरह सांस्कृतिक परंपराओं से जीवित रखे गये स्त्री-पुरुष के संबंध भी बने रहे। उन समाजों में जहाँ यौन आधार पर घर और बाहर के कामों का बंटवारा ख़त्म हो रहा है वैसी शारीरिक बनावट और वैसे व्यवहार जिनका मूल उद्देश्य जोड़ी के सदस्य को आकर्षित कर अपने साथ बांध कर रखने का था, समस्याएँ खड़ी होने लगी हैं।

सांस्कृतिक विकास की दिशा एक-दूसरे को आकर्षित करने वाले आनुवंशिक शारीरिक गुणों को साज-सज्जा और हावभाव से उत्तरोत्तर अधिक उत्तेजक बनाने वाली होती गयी है। जैसे होठों को और अधिक आकर्षक बनाने के लिए लिपस्टिक का प्रयोग, वक्षस्थल और कंधों को और अधिक भव्य बनाने के लिए ब्रेजियर और कंधों के पैडों का इस्तेमाल, शरीर की बनावट की वक्रता को अधिक स्पष्ट अभिव्यक्ति देने के लिए विशेष तरह के चुस्त कपड़ों का इस्तेमाल, बरौनियों और भौंहों को रंग की पेन्सिल से अपेक्षित रंग और वक्रता प्रदान करना, तरह-तरह की मोहक सुगंधों का प्रयोग तथा आकर्षक भाव-भंगिमाओं को अपनाना आदि। जैसे-जैसे काम के स्थानों पर मर्द और औरत साथ-साथ काम करने लगे हैं, आनुवंशिकी और संस्कृति दोनों से प्राप्त गुणों का मिला-जुला प्रभाव अपनी जोड़ी के मर्द या औरत से इतर मर्द और औरतों को आकर्षित करने की दिशा में हो रहा है। इससे जोड़ी को बांधे रखने वाले गुणों का उलटा असर हो रहा है, यानी इस बंधन को ढीला करने की दिशा में। इससे मर्द और औरत के संबंध काफ़ी अनिश्चित और अंतर्विरोधपूर्ण हो रहे हैं और जैसा डेस्मौंड मॉरिस ने अपनी पुस्तक में अमेरिकी समाज के अध्ययनों के आधार पर बतलाया है, काफ़ी बड़े अनुपात में स्त्रियों और पुरुषों का यौन संबंध वैवाहिक बंधन के दायरे के बाहर होता है। कमोबेश, अधिकांश समाजों में जहाँ औरतों को परदे एवं अन्य कठोर बंधनों में नहीं रखा जाता, विवाहेतर यौन संबंध काफ़ी आम बात हो गयी है। इससे कुछ आधुनिक औद्योगिक समाजों में तो लोगों का जोड़ी के रूप में सहवास अत्यंत ही अल्पकालिक होता जा रहा है। लोग अपने पेशों को जितनी तेजी से बदलते हैं उससे भी अधिक तेजी से पति या पत्नी को बदलने लगे हैं। ऐसे अस्थिर संबंध से शिकारी जीवन जैसा संकट तो नहीं पैदा होता लेकिन ऐसे दंपतियों की संतानों के प्रशिक्षण और विकास पर नकारात्मक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनोवैज्ञानिक प्रभाव ज़रूर पड़ता है। इसके अलावा व्यक्ति के यौन संबंधी व्यवहारों और धर्म एवं परंपरा द्वारा इन संबंधों को नियमित करने वाली नैतिक मान्यताओं के बीच टकराहट पैदा हो रही है, क्योंकि ये मान्यताएँ एवं नैतिक मूल्य उन प्राक् औद्योगिक समाजों में विकसित हुए थे जहाँ औरतों और मर्दों की दुनिया के दायरे अलग-अलग सुनिश्चित किये गये थे। लेकिन मानव संस्कृति ने बदलते संदर्भ के अनुरूप कोई समाधान कारक नैतिक मूल्यबोध नहीं पैदा किया है। पुरानी नैतिकता को कबूल करने वाले लोगों में इससे स्वेच्छाचारिता और नैतिक अराजकता का एहसास होता है। ये विरोधाभास और भी बढ़ रहे हैं क्योंकि औद्योगिक और नगरीय समाज के कार्यक्षेत्र में तनाव की स्थितियाँ लगातार पैदा हो रही हैं। नर-नारी के नये संबंधों (यानी साथ-साथ समान तरह के काम में लगने से पैदा संबंध) में सबल व्यक्तियों की आक्रामकता से बचने के लिए संस्कृति प्रदत्त वैसी भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन किया जाता है जैसी अनेक स्तनपायी प्रजातियों की मादाएँ करती हैं—यानी अपने यौन आकर्षण का प्रयोग। जैसा कि डेस्मौंड मॉरिस का कहना है—आनुवंशिकी से प्राप्त मनुष्येतर स्तनपायी जीवों के व्यवहारों के समानांतर मनुष्यों ने भी ऐसे सांस्कृतिक व्यवहार विकसित कर लिए हैं जो सशक्त मर्दों की आक्रामकता को कम करते हैं। इस तरह अपने काम और पेशे में सुरक्षा के लिए किये गये स्त्रैण व्यवहार का ग़लत अर्थ लगा लिया जाता है—यानी यौन संबंध के लिए आमंत्रण। इससे काम के स्थानों में नर-नारी के संबंध ग़लतफहमी पैदा करने वाले एवं अत्यंत ही तनावपूर्ण होते हैं। अक्सर काम के स्थान पर मर्दों के व्यवहार को नियंत्रित करने के लिए कानून का सहारा लेना पड़ता है।

इसके अलावा एक और भी कारण है जिससे यह संबंध तनावपूर्ण होता है। यह कारण है अनेक दूसरी प्रजातियों की तरह मनुष्यों में भी नर और नारी का यौन संबंध में अलग-अलग रुझान। संतान को गर्भ में धारण करने एवं पालन-पोषण के लिए मुख्य रूप से जवाबदेह होने के कारण मानव मादा यौन संबंधों के बारे में अधिक गंभीर और सावधान होती है और स्वाभाविक रूप से पुरुष के साथ चिरस्थायी संबंध खोजती है। ऐसा रुझान इसलिए भी अपरिहार्य हो जाता है क्योंकि मानव प्रजाति में शैशवकाल बहुत लम्बा होता है, जिस काल में शिशुओं की देख-रेख मुख्य रूप से माताएँ ही करती हैं। पुरुषों के व्यवहार में यौन संबंध के प्रति ऐसी गंभीरता या चिरकालिक बंधन का रुझान नहीं होता। आनुवंशिकी से दोनों के रुझानों और व्यवहारों में भी अलग तरह के गुण विकसित हुए हैं जिससे एक-दूसरे की समझ कठिन होती है। इससे भी नर-नारी के संबंध सदा अनिश्चितता के दायरे में रहते हैं। प्राय: मर्द विविध स्थितियों में तय नहीं कर पाते कि स्त्री के प्रति उपयुक्त व्यवहार क्या हो सकता है। संस्कृतिजन्य नैतिक बंधन इस संवादहीनता को ख़त्म नहीं कर पाते, सिर्फ़ बनावटी बंधन डालते हैं। लेकिन आदमी अपनी खोजी वृत्ति के कारण परंपराओं और नैतिकता के बंधन को ईश्वर प्रदत्त और शाश्वत मानने के बजाय इसके लिए ठोस आधार ढूँढ़ने लगा है जो उपलब्ध नहीं है। अभी तक आधुनिक समाजों की संस्कृतियाँ इस स्थिति से लोगों को उबार नहीं पायी हैं। इसका नतीजा है नर-नारी के संबंध का सदा संकट के घेरे में रहना : पारिवारिक तनाव,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
इसको लेकर चलने वाले अनगिनत मुकदमे, औरतों के ऊपर होने वाले आक्रमणों और यौन-अपराधों के रोज प्रकाश में आने वाले समाचार। आधुनिक औद्योगिक समाज ने व्यापारिक लाभ के लिए विज्ञापनों में यौन आकर्षण के कारकों को अधिक से अधिक उत्तेजक रूप में पेश करना शुरू किया है और इस तरह समस्या को और भी असाध्य बना दिया है। चूँकि इस में औरतों को मूलतः वस्तु (ओबजेक्ट) के रूप में पेश किया जाता है। इसका खमियाजा उन्हें ही भुगतना पड़ता है—यह उनमें पुरुष समाज के प्रति एक वितृष्णा का भाव भी पैदा करता है। तत्काल स्थिति यह बन रही है कि विचार के धरातल पर नर और नारी बिलकुल एक दूसरे से अलगाव की दिशा में जा रहे हैं, खासकर नारी मुक्ति आन्दोलन के प्रभाव में नारियों में यह एहसास लगातार बढ़ रहा है कि पुरुष का अस्तित्व मानव प्रजाति के लिए अप्रासंगिक हो गया है। क्लोनिंग की संभावना इस अलगाव को आदमी की पहुँच के दायरे में ला रहा है, जहाँ आदमी यौन संबंधों के बिना ही अपनी जीवित अनुकृति पैदा कर सकता है। यह एक ऐसी दिशा है जिसमें नर एवं नारी अलग प्रजातियाँ बन जायेंगे। यह एक ऐसी दिशा है जिसमें नर-नारी संबंधों के इर्दगिर्द विकसित की गयी सारी कलाएँ, संगीत और साहित्य कौतूहल की वस्तुएँ बन कर रह जायेंगी। इस नयी स्थिति से पैदा संस्कृति क्या होगी इसकी आज हम कल्पना भी नहीं कर सकते क्योंकि यह हमारे वर्तमान सांस्कृतिक सोच की परिधि से बिलकुल बाहर की चीज़ होगी। लेकिन फिलहाल हम इस आत्यंतिक स्थिति की कल्पना करने के बजाय अमरत्व की चाहत से जुड़े दूसरे आयामों की चर्चा ही करेंगे।

यौन और प्रजनन संबंधी उद्देश्यों की पूर्ति में पशुओं की सहज प्रवृत्ति और मानव समाज में संस्कृति द्वारा उपलब्ध नतीजे एक जैसे दिखाई देते हैं। लेकिन उद्देश्य हासिल करने के माध्यमों के फ़र्क़ से सहज प्रवृत्ति और संस्कृति में एक बुनियादी फ़र्क़ दिखाई देता है। पहला, अपनी भूमिका एक अज्ञात आंतरिक दबाव के तहत निभाता है। इसमें प्राणी एक अचेतन धागे से बंधा हुआ होता है जो उसके सभी क्रियाकलापों को नियंत्रित करता है। दूसरे में माध्यमों का प्रयोग सचेत ढंग से होता है और ये माध्यम मानव द्वारा निर्मित होने के कारण एक हद तक मनुष्यों के नियंत्रण में होते हैं। इन माध्यमों का एक बड़ा हिस्सा अमूर्तन प्रक्रिया से अस्तित्व में आता है और धीरे-धीरे स्वयं एक स्वतंत्र जीवन धारण कर लेता है। ये माध्यम प्रतीकों पर आधारित होते हैं इसीलिए जैसा कि पहले कहा गया है संस्कृति प्रतीकधर्मी बन जाती है। इनमें कुछ महत्त्वपूर्ण माध्यम हैं—भाषा, संगीत, कला, विज्ञान, दर्शन, धर्म एवं विचारधाराएँ। विकास की एक सीढ़ी के बाद एक बड़े मानव समूह के लिए इनमें प्रत्येक का विकास अपने आप में साध्य बन जाता है। इनमें लगे साधकों के लिए इनसे जुड़ा सृजन कार्य अपने व्यक्तित्व की ज़्यादा सीधी अभिव्यक्ति मालूम होती है बनिस्बत अपने जीनों से पैदा संतानों के। इस तरह सांस्कृतिक विकास के एक ऊँचे स्तर पर मनुष्य अमरत्व की तलाश अपनी सर्जनात्मक उपलब्धियों में देखने लगता है। यहाँ हमें संस्कृति और संस्कृतिजन्य वस्तुओं के उस फ़र्क़ को स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए जिसका जिक्र पहले किया जा चुका है। संस्कृतिजन्य वस्तुएँ ठोस और मूर्त हो सकती हैं। लेकिन इनके निर्माण के पीछे की अमूर्त

S.P.S. Library
CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चेतन प्रक्रिया ही इनकी आत्मा है—ठोस निर्मित वस्तु नहीं। पहले संस्कृतिजन्य वस्तु में मोटर गाड़ी का उदाहरण दिया गया था और कहा गया था कि यह ठोस वस्तु संस्कृति नहीं है। मतलब यह कि वास्तविक सांस्कृतिक उपलब्धि वह पूरी विचार पद्धति, परंपरा और सामाजिक संरचना है जिससे मोटर गाड़ी का निर्माण होता है और उसका मूल्यांकन होता है। एक आदिम समाज में यह महज कौतूहल की वस्तु होगी। यही बात किसी दूसरी कला वस्तु, संगीत स्वर एवं स्थापत्य आदि के संबंध में भी कही जा सकती है। जो वस्तुएँ निर्मित हो जाती हैं वे नश्वर भी हैं और निर्वैयक्तिक भी, क्योंकि उनकी नकल की जा सकती है। अक्षय वह चिंतन प्रणाली और अन्वेषक बुद्धि है जो अगली पीढ़ियों की परंपरा में जीवित रह नयी चिंतन प्रणालियों और अन्वेषणों को जन्म देती है। जहाँ मनुष्य की बुद्धि अमूर्त चिंतन प्रक्रिया से कट कर संस्कृतिजन्य वस्तुओं की उपलब्धि में लीन हो जाती है वहाँ अमरत्व की तलाश ख़त्म हो जाती है और संस्कृति एक अंधी गली में प्रवेश करती है। जीवन को कायम रखने के लिए आवश्यक वस्तुओं के निर्माण से आगे बढ़ जब मनुष्य की सर्जनात्मक बुद्धि उपभोग की वस्तुओं के विस्तार या इनकी विशालता को ही साध्य मान इन्हीं की तलाश में लग जाती है तब वह ऐसी अंधी गली में फँस जाती है जिसमें सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है और मानव जीवन का विकास भी रुक जाता है। आल्डुअस हक्सले के बहुचर्चित उपन्यास 'द ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में एक ऐसी ही स्थिति की कल्पना है जिसमें विज्ञान और तकनीकी के अद्यतन उपकरणों के आधार पर मनुष्यों को हर तरह की सुविधा से युक्त किया जाता है और मानव स्वभाव में परिवर्तन कर सभी तरह की पीड़ा से मुक्त। लेकिन इस समाज का आधार सर्जनात्मक चेतना पर प्रतिबंध है। अंततः यह समाज जड़ हो जाता है और व्यक्ति अपनी मुक्ति की तलाश आख़िर में प्राणांतक पीड़ा में ढूँढ़ता है। चीन की दीवार, पिरामिड या ताजमहल की-सी उपलब्धियाँ जीवन नहीं, सांस्कतिक जीवन के प्रवाह में स्मृति-चिह्न भर हैं, जो पुरातत्वविदों और इतिहासकारों के अध्ययन की और आगे आने वाली पीढ़ियों के लिए कौतूहल की वस्तु बन जाती हैं—वैसे ही जैसे अजायबघर में रखी गयी अन्य वस्तुएँ।

दुनिया में जीवों की अनेक प्रजातियाँ हैं जो अपने परिवेश के लिए अद्‌भुत क्षमताओं और प्राकृतिक औजारों से लैस हैं। पक्षियों की उड़ान भरने की विलक्षण क्षमताएँ, चमगादड़ का अंधकार में ध्वनि के सहारे उड़ान भरना और शिकार करना, जुगनुओं की प्रकाश पैदा करने की क्षमता, कुछ मछलियों की अपने शरीर में विद्युत पैदा करने की क्षमता, हजारों मील की दूरी तय कर कई मछलियों और पक्षियों के निर्दिष्ट गंतव्य तक पहुँचने की क्षमता अति विलक्षण हैं। लेकिन सभी प्रकृतिजन्य हैं और इन क्षमताओं का प्रयोग सहज प्रवृत्ति द्वारा होता है। लेकिन इसी कारण अलग-अलग दिशा में विशेष परिवेश के लिए अत्यधिक क्षमता विकसित कर ये अंधी गली में पहुँच गये हैं। इन रास्तों से आगे इनके विकास की कोई गुंजाइश नहीं। परिवेश बदलते ही इन पर विनाश का ख़तरा भी आ जाता है। मनुष्य की संस्कृति ही इसे विकास का एक खुला मार्ग उपलब्ध कराती है जहाँ वह किसी भौतिक उपलब्धि से बंधा नहीं है। उसके सामने नित्य नई कल्पनाएँ हैं और नई सर्जनात्मक संभावनाएँ।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : तीन

संस्कृति का उद्भव एवं सूचना स्रोतों का विकास

पिछले अध्यायों से मोटामोटी यह समझा जा सकता है कि मानव जीवन में संस्कृति की भूमिका क्या है। लेकिन यह क्यों, कब और कैसे अस्तित्व में आयी, यह आज भी शोध और विवाद का विषय बना हुआ है। इस अनिर्णय का एक कारण तो स्पष्ट है। संस्कृति का विकास मानव जीवन के उस शैशवकाल से जुड़ा हुआ है जिसका कोई निश्चित इतिहास उपलब्ध नहीं। नृशास्त्रियों ने जिन आधे-अधूरे साक्ष्यों के आधार पर मानव जीवन के विकास के संबंध में धारणाएँ बनायी हैं वे ही एकमात्र आधार हैं जिनके सहारे हम संस्कृति के विकास की संभावित पगडंडियों का निरूपण कर सकते हैं। यह अचानक एक समय में किसी बने-बनाये रूप में पैदा नहीं हुई, बल्कि मानव विकास के प्रारंभिक काल में विविध चुनौतियों से मुकाबले के क्रम में मनुष्य की शारीरिक बनावट में कुछ परिवर्तन हुए और कुछ स्नायविक एवं मानसिक क्षमताएँ विकसित हुईं जो आगे चलकर मनुष्य को सांस्कृतिक जीव बनाने में सहायक हुईं।

मोटामोटी तौर से (लेकिन विवाद से परे नहीं) नृशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि आज से लगभग साढ़े तीन करोड़ से ढाई करोड़ वर्ष पहले, जिसे ओलिगोसिन काल कहा गया है—मानवों के पूर्वज बंदरों की शाखा से विभक्त हुए। लेकिन इस काल में ये मूलतः बंदरों की तरह ही वृक्षों में रहने वाले जीव थे। यह वह काल था जब दुनिया के अनेक भाग घने जंगलों से ढके थे। वृक्ष पर रहने वाले जीवों के लिए यह आदर्श स्थिति थी—अदन के बाग से भी अच्छी स्थिति। वृक्षों से ही उन्हें भरपूर फल-फूल भोजन के लिए मिल जाते थे और उनकी ऊँची डालियाँ हिंस्र पशुओं से सुरक्षा और स्वच्छन्द विचरण का आनन्द देती थीं। लेकिन आज से लगभग दो करोड़ वर्ष पहले से मायोसिन काल की शुरूआत हुई और जलवायु शुष्क और अपेक्षाकृत शीतल हो गया। नतीजा हुआ कि अधिकांश घने जंगल नष्ट हो गये और जंगलों वाला भूभाग घास के विशाल मैदानों में बदल गया। यह काल वृक्षों पर रहने वाले जीवों के लिए अनुकूल नहीं था। इनमें अनेक नष्ट हो गये। बाकी में कुछ ने सिमट रहे जंगलों में पनाह ली और शेष मैदानी इलाकों की चुनौतियों में जीवन की नयी संभावनाओं की तलाश में लगे। यह काल चरने वाले पशुओं के लिए विशेष उपयुक्त था और चारों ओर उनकी भरमार हो गयी। इसी के साथ इनका शिकार कर जीने वाले माँसभक्षी जीव बाघ, सिंह आदि के पूर्वजों का भी तेजी से फैलाव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हुआ। इस नयी स्थिति में मानवों के आदि पूर्वजों को वृक्ष की सुरक्षा छोड़ घास के मैदानों के कठिन संघर्ष के जीवन में उतरना पड़ा और उसी में भोजन एवं सुरक्षा दोनों की व्यवस्था करनी पड़ी।

पेड़ पर फल-फूल खाकर रहने और पेड़ की शाखाओं और तनों पर निवास करने के कारण इनके नाखून छोटे और कमजोर हो गये थे, वैसे दांत भी विकसित नहीं हुए थे जिनसे चीर-फाड़ की जा सके जैसे कि कुत्ते, बाघ आदि माँसभक्षी जीवों में होते हैं। इनके कद भी मैदानों के बड़े पशुओं की अपेक्षा छोटे पड़ते थे—इनके कंकाल के जीवाश्म से अंदाज किया जाता है कि आज के मनुष्य के कद से दो तिहाई ही इनकी ऊँचाई रही होगी। नतीजतन भोजन के लिए शिकार करने की मजबूरी और शक्तिशाली माँसभक्षी पशुओं से अपनी सुरक्षा की ज़रूरत दोनों ने इन्हें आपसी सहयोग के लिए विवश किया। इस तरह मायोसीन से प्लायोसीन काल की अवधि में वृक्ष छोड़ मैदानों में निवास के लिए बाध्य मनुष्य सामूहिक शिकारी जीव बन गया। दूसरे सामूहिक शिकारी भेड़ियों से इनकी भिन्नता इस बात में थी कि इनके पास नुकीले चीरने-फाड़ने वाले बड़े दांत नहीं थे और न तेज दौड़ने लायक पैर की बनावट थी। लेकिन इन्हें इसके एवज में एक वरदान प्राप्त हो चुका था। इनके अगले पांव हाथ में बदल गये थे जो डालों को पकड़ने और उन पर झूलने के लिए विकसित हुए थे, दौड़ने के लिए नहीं। ये पिछले पैरों पर खड़े हो सकते थे और लम्बी दूरी तक चल सकते थे लेकिन तेज दौड़ नहीं लगा सकते थे। मनुष्य के पांवों को आधुनिक रूप में आने में लाखों वर्ष लगे। लेकिन चलने से स्वतंत्र और अपनी बनावट के कारण किसी वस्तु को जोर से पकड़े रखने की क्षमता ने इन्हें हथियारधारी या औजारधारी जीव बनने में सहायता की। लेकिन इनकी असली शक्ति थी इनकी बुद्धि का क्रमिक विकास, जिसके बल से ये शिकार के लिए अपने समूह को सक्षम ढंग से समन्वित कर सकते थे। इसी बुद्धि ने इन्हें हथियार एवं अन्य औजार बनाने में सहायता की। दौड़ने से स्वतंत्र हुए हाथ पहले आसपास में उपलब्ध पेड़ की डालियों और पत्थरों का हथियार के रूप में इस्तेमाल कर सकते थे, बाद में जटिल हथियारों के निर्माण और इस्तेमाल में इनकी भूमिका बढ़ती गयी।

इस तरह पेड़ से मैदान में आने वाले आदि-मानवों में उन गुणों का संगम हुआ जिनसे सामाजिक जीवन और संस्कृति के विकास की संभावना पैदा हुई। घने जंगलों में पेड़ पर रहने वाले जीवों में संप्रेषण के लिए घ्राण शक्ति पर निर्भरता बहुत ही कम हो जाती है। इसलिए मैदान में आने के पहले मानवों के आदि पूर्वजों में संप्रेषण की जो कुछ नयी क्षमताएँ विकसित हुई थीं उनका भी फ़ायदा उन्हें बाद में हुआ। ये क्षमताएँ कैसे विकसित हुईं? पेड़ पर रहने वाले जीवों में संप्रेषण के लिए दृष्टि का महत्त्व बहुत बढ़ गया क्योंकि दृष्टि का महत्त्व उनके अस्तित्व के लिए सर्वोपरि था। आँख से देख फलों का रंगरूप, आकार, दूरी एवं ऊँचाई का आकलन और वैसे ही नजर डालते ही डालियों की मोटाई, दूरी आदि का अनुमान ऐसे जीवों के लिए ज़रूरी था जो भोजन के लिए एक डाली से दूसरी डाली और एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष को फांदकर या लटककर विचरण करता

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

हो। इसी काल में मनुष्य की स्टीरिओस्कॉटिक दृष्टि—यानी दोनों आँखों पर किसी वस्तु की बनी तस्वीर के संयोग से उसकी गहराई या मोटाई अथवा दूरी का अंदाज करने की क्षमता का भी विकास हुआ। देखते ही गहराई, दूरी या मोटाई का अंदाज करने की क्षमता के बिना वृक्ष का जीवन जोख़िम भरा होता। वृक्ष की डालियों पर कूदने-फांदने में इनके आकलन में थोड़ी भूल का मतलब वृक्ष की ऊँची डालियों से जमीन पर गिरना और अंगभंग या मृत्यु हो सकता था। आपसी संप्रेषण के लिए भी चेहरे के भावों को पहचानना ज़रूरी था। इसी हिसाब से चेहरे की जटिल माँसपेशियों का विकास हुआ। अन्य जीवों की अपेक्षा बंदरों और मनुष्यों में चेहरे की माँसपेशियाँ कहीं अधिक अभिव्यक्ति देने वाली होती हैं। इस तरह संप्रेषण के लिए दृश्य संकेत की बुनियादी क्षमताओं का विकास इसी काल में हो चुका था। लेकिन इससे भी महत्त्वपूर्ण एक दूसरा विकास हुआ जो भविष्य के मानव संवाद की आधारशिला बना। घने जंगलों में रहने वाले जीवों में संप्रेषण का एक दूसरा माध्यम ध्वनि होता है। घने पत्तों और डालियों के बीच छोटी दूरी के बाद दृष्टि द्वारा संकेत की एक सीमा बन जाती है। दूर की वस्तुएँ या जीव पत्तों के पीछे ओझल हो जाते हैं। अंधेरे में सब-कुछ अदृश्य हो जाता है। आवाज पर ऐसी कोई सीमा नहीं लगती। घने से घने जंगल में भी, अंधेरे में भी आवाज दूर तक जा सकती है। आवाज के द्वारा संकेत की दूसरी सुविधा यह होती है कि इसमें विविधता की लगभग सीमाहीन संभावना होती है। इसीलिए घने पत्तों से ढके पेड़ों के शिखर के पास रहने वाली चिड़ियों में भी संकेत का मुख्य माध्यम आवाज ही है। प्रकाश का दूसरा स्थान होता है, हालाँकि नर-मादा के चयन में पंखों के रंगों का महत्त्व होता है और उनका प्रदर्शन कर पक्षी एक-दूसरे को आकर्षित करते हैं। यह महज संयोग ही नहीं है कि दृष्टि और ध्वनि पेड़ों में निवास करने वाले बंदरों और पक्षियों दोनों ही के लिए संकेत के ख़ास माध्यम बन गये।[1]

वृक्षों की ज़िन्दगी की एक और आवश्यकता थी, स्नायुओं और विविध इन्द्रियों एवं अंगों के कार्यों का समन्वय। इस समन्वय-प्रक्रिया से मस्तिष्क के विकास में गति आयी। बाहरी संकेतों को ग्रहण कर त्वरित निर्णय के आधार पर अंगों का उपयुक्त संचालन करने की क्षमता मस्तिष्क में विकसित हुई। इस निर्णय-प्रक्रिया में और सहज प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित क्रिया में एक बुनियादी फ़र्क़ यह होता है कि सहज प्रवृत्ति द्वारा निर्धारित क्रिया में बाहरी संकेतों के अप्रत्याशित बदलाव का शुमार कर उपयुक्त परिवर्तन नहीं हो सकता। क्रियाएँ आनुवंशिकी द्वारा पूर्व निर्धारित क्रम और गति (रिफ्लेक्स) में घटती हैं। विकसित मस्तिष्क इसके विपरीत तेजी से बदलते परिवेश के अनुरूप आवश्यक परिवर्तन

---

1. 1997 के एक समाचार के अनुसार जर्मनी के जीव वैज्ञानिक थॉमस गाइसमान एवं माथिया ऑल्गेडिंगेर ने अध्ययन के क्रम में पाया कि दक्षिण पूर्व एशिया के घने जंगलों में सियमांग नामक गिब्बन बंदरों की जोड़ियाँ पारस्परिक संगीत (डुएट) के जरिए एक दूसरे से अपनी घनिष्ठता को प्रगाढ़ बनाते हैं। संगीत के स्वर एक बार में चालीस सेकंड तक जारी रहते हैं। इन गिब्बनों में एक नर और एक मादा की जोड़ी रहती है। आदमी की जोड़ी में भी बातचीत और संगीत की सान्निध्य को स्थायी बनाने में अहम भूमिका होती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कर क्रिया को जीवन के अधिक अनुकूल बनाता है। इसलिए सभी विकसित जीवों में, विशेषकर स्तनपायी जीवों में, परिस्थिति के अनुसार स्वतः स्फूर्त क्रियाओं को एक हद तक नियंत्रित करने की क्षमता होती है। इनमें परिस्थिति से प्रशिक्षित होने का सिलसिला चलता रहता है। बिल्ली की सहज प्रवृत्ति दूध या मछली देख कर झपटने की होती है। लेकिन अगर वहाँ मनुष्य की उपस्थिति से इसमें ख़तरा दिखाई दे तो वह अपनी सहज प्रवृत्ति पर नियंत्रण कर दूसरी तरह से उन्हें पाने की कोशिश करती है क्योंकि उसका मस्तिष्क उसे उसके जीवन के लिए संभावित ख़तरे से आगाह कर देता है।

मस्तिष्क का इस तरह विकास मनुष्यों में सबसे ज़्यादा हुआ। यों तो यह विकास प्रक्रिया करोड़ों वर्षों से चलती रही है लेकिन वृक्ष से उतर मैदानी इलाकों में आने पर शिकारी जीवन में यह विशेषतौर से उपयोगी हुआ। जैसे-जैसे इसका उपयोग हुआ, यह विकसित भी होता गया। सामूहिक जीवन के लिए नजदीक से चेहरों के भावों के संकेत को समझना बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। पक्षियों में भी आवाज के संकेत को समझने की क्षमता होती है। लेकिन इन संकेतों की विविधता सीमित होती है—इनके द्वारा ख़तरे से आगाह किया जा सकता है, अपने घोंसले के पास से अपनी प्रजाति के दूसरे पक्षियों को धमका कर दूर भगाया जा सकता है, नर या मादा को आकर्षित किया जा सकता है, बच्चों द्वारा भोजन की अपेक्षा का संकेत या वयस्क पक्षियों द्वारा अपने बच्चे को, 'भोजन लाया' ऐसा संकेत दिया जा सकता है। अधिकांश पक्षियों में उंगली पर गिने जाने लायक कुछ ही संकेत जीवन की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यथेष्ट होते हैं। पेड़ छोड़ कर मैदानी इलाकों में रहने वाले आदि-मानवों को अति जटिल एवं विविधतापूर्ण स्थितियों का सामना करना पड़ा। मैदानी इलाकों की भौगोलिक स्थितियों की विविधता, हिंस्र पशुओं की विविधता और उनके व्यवहारों की विविधता, उन पशुओं के स्वभाव और आकारों की विविधता, जिनका शिकार कर आदि-मानव आंशिक रूप से अपना भोजन पाता था। जोड़े या युग्म के रूप में और सामाजिक रूप में—दोनों तरह का जीवन[1] एक साथ जीने से पैदा जटिल स्थितियों के अनुरूप संप्रेषण की आवश्यकता संकेतों के क्षेत्र के अत्यधिक विस्तार का दबाव बनाये रखती होंगी। आवाज से संकेत के विकास का संबंध बहुत कुछ गले की आवाज को नियंत्रित कर विविध स्वरों को पैदा करने की क्षमता से जुड़ा है। आदमी में यह क्षमता इतनी विकसित है कि बोलचाल में वह मनचाहे ढंग से अपनी आवाज को ऊँचा-नीचा, तेज-मद्धिम, हल्का-भारी आदि रूप दे सकता है और किसी भाषा में उपलब्ध सभी शब्दों एवं वाक्यों का उच्चारण ठीक उतार-चढ़ाव के साथ कर सकता है। दिलचस्प बात यह है कि अनेक पक्षियों में भी आवाज को नियंत्रित रूप देने की यह क्षमता है। तोता, मैना आदि पक्षी आदमी की बोली की हूबहू नकल करने की क्षमता रखते हैं। लेकिन आदमी जिस तरह इस क्षमता का प्रयोग जटिल संवाद के लिए कर

---

1. मोटामोटी तौर पर यह माना जाने लगा है कि हालाँकि आदिकाल से ही मनुष्य समूहों में रहता था पर प्रायः इन समूहों के भीतर नर और मादा जोड़ी में रहते थे। इससे समूह में शिकार करने वाले या सामूहिक रूप से अपनी रक्षा करने वाले जीवों में मादा या नर को लेकर होने वाली स्पर्धा एवं कलह से समूह को बचाया जा सकता था।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सकता है, पक्षी नहीं कर सकते। उनमें यह नकल की एक याँत्रिक प्रक्रिया भर है। यह ज़रूर है कि उनकी इस क्षमता से प्रभावित हो आदमी ने तोता-मैना द्वारा आदमी जैसे संवाद की अनेक काल्पनिक कथाएँ गढ़ ली हैं।

प्रत्यक्ष अनुभव में कहीं भी सोच-समझ कर स्थिति के अनुसार भाषा का प्रयोग करने का उदाहरण पक्षियों में नहीं पाया गया है। अन्य सरल संकेतों की तरह यह भी संकेत भर है जिसका वे विशेष स्थितियों की उत्तेजना में दूसरे सरल संकेतों की तरह प्रयोग करते हैं। ये सिर्फ़ सीखे गये शब्दों और वाक्यों को दुहरा सकते हैं। नयी स्थितियों को अभिव्यक्ति देने के लिए नये वाक्य नहीं बना सकते। कारण यह है कि इनके मस्तिष्क का वैसा विकास नहीं हो पाया है, जिसमें आवाज की अवधारणात्मक अभिव्यक्ति संभव हो। इसके विपरीत चिंपांजी में, जो विकास के हिसाब से मनुष्य का चचेरा भाई है, बुद्धि एवं अवधारणात्मक क्षमता का एक हद तक विकास हुआ है। लेकिन उसमें आवाज को संप्रेषण के लिए विविधता प्रदान करने की क्षमता नहीं होती। इसलिए बहुत प्रयास करने पर भी उसे उंगली पर गिनने लायक शब्दों का प्रयोग करना ही सिखलाया जा सका है। लेकिन आवाज में प्रशिक्षित करने के बजाय गूंगे-बहरों को प्रशिक्षित करने के संकेतों के सहारे कुछ चिंपांजियों को एक सौ तीस से अधिक शब्दों का सार्थक प्रयोग करना सिखलाया जा सका है। लेकिन ऐसा लगता है कि यही उनकी भाषाई क्षमता की सीमा है। मनुष्य की भाषाई क्षमता के हिसाब से यह नगण्य है। भाषा की क्षमता शायद मनुष्य का सबसे विलक्षण गुण है। इसके पीछे होती है उसकी अवधारणात्मक क्षमता।

आदमी की भाषा का विकास उसकी अवधारणा की शक्ति का ही परिणाम है। लेकिन अवधारणा की शक्ति का विकास भी भाषा के साथ गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। जब तक भाषा का विकास नहीं होता, अवधारणा की शक्ति अति सीमित होती है। अवधारणा न सिर्फ़ आदमी की भाषा के विकास के लिए ज़रूरी है बल्कि मनुष्य की संस्कृति के विकास का आधार स्तम्भ है। मनुष्य की संस्कृति, जैसा कि पहले बतलाया गया है, उन सूचनाओं का स्रोत है जो आनुवंशिकी के प्रभाव से अलग मानव समूहों एवं व्यक्तियों के क्रियाकलाप को दिशा एवं विविध आयाम प्रदान करती है। इन सांस्कृतिक सूचनाओं का सबसे महत्त्वपूर्ण वाहक मनुष्य की भाषा होती है। इसके अलावा दूसरी विधाएँ भी वाहक होती हैं—जैसे संगीत, नृत्य, कला आदि जिनसे भावों एवं स्थितियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति होती है। इन सब के पीछे मनुष्य की अवधारणात्मक क्षमता है।

यह निश्चित लगता है कि न्यूनतम अवधारणा की शक्ति मनुष्य में भाषा के पहले विकसित हुई होगी। इस बात का अनुमान कुछ इस बात से होता है कि मनुष्य ने आज से लाखों वर्ष पहले अपने शिकारी जीवन में हथियारों का इस्तेमाल करना शुरू किया था। चूँकि पत्थर के हथियार अश्मिभूत रूप में लाखों वर्ष तक अस्तित्व में रहते हैं, उनकी उपस्थिति से इस बात का पता लगता है। भाषा का उस प्राचीन काल में अस्तित्व में होना अनिश्चित लगता है क्योंकि लिपिबद्ध होने के पहले यह अपने अस्तित्व की कहानी किसी ठोस वस्तु में नहीं छोड़ सकती थी। इन हथियारों में एच्युलियन हैन्ड एक्स (हस्त

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परस) के नाम से जाना जाने वाला एक ऐसा हथियार अनेकों जगह हजारों वर्ष के अन्तराल बताते हुए पाया गया है जो शिल्प और तकनीक दोनों का विलक्षण नमूना है। (चित्र 3) यह निश्चित रूप से बतलाता है कि आदमी माँसाहारी बन गया था और हथियारों का इस्तेमाल शिकार के लिए या मृत जानवरों की चीरफाड़ के लिए करता था। हथियार बनाना और उसका इस्तेमाल करना निश्चित रूप से अवधारणात्मक क्षमता के विकास की ओर इशारा करता है। वैसे तो पशुओं के व्यवहार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों के अनुसार चिंपांजी तथा वनमानुषों (एप) की कुछ दूसरी प्रजातियाँ भी यदाकदा वृक्ष की डालियों को तोड़ उनका इस्तेमाल हथियार की तरह कर लेती हैं। इसके अलावा ये टहनियों को तोड़ और उनके सिरे को छील दीमकों की बांबी में घुसा दीमकों को बांबी से बाहर आने को मजबूर करते हैं और फिर उन्हें खा जाते हैं। लेकिन यह सब सामने की टहनियों और बांबी के एक स्थान और समय में उपस्थित होने पर किया जाता है। इसके पीछे कोई पूर्व नियोजित कार्यविधि नहीं होती। लेकिन आदिम मनुष्यों द्वारा प्राचीन प्रस्तर युग एवं उसके बाद के काल में बनाये गये हथियारों के पीछे निश्चित रूप से ऐसी अवधारणा दिखाई देती है जो वस्तुओं की अनुपस्थिति में भी परंपरा के द्वारा लोगों के मस्तिष्क में उपस्थित थी। हजारों वर्षों तक दूर-दराज क्षेत्रों में एक ही बनावट के ऐसे चकमक पत्थर के हथियारों की उपस्थिति बतलाती है कि उनको बनाने की एक परंपरा रही होगी, जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी कायम रही और इस परंपरा से प्राप्त अवधारणा एवं कार्यविधि के अनुसार कठोर पत्थरों को पत्थर की ही हथौड़ी और छेनी के सहारे काट-छांट कर निश्चित रूप दिये गये। अवधारणा की विशेषता यह होती है कि यह अवधारित वस्तु की उपस्थिति से अलग उसकी एक छवि दिमाग के सामने बरकरार रखती है। इससे हम किसी वस्तु का वास्तविक प्रयोग करने के पहले दिमाग में विभिन्न परिस्थितियों में उसके प्रयोग के संभावित परिणामों की कल्पना कर लेते हैं।

चित्र 3

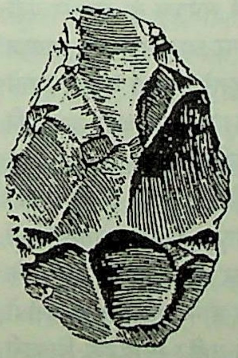

चित्र (क)

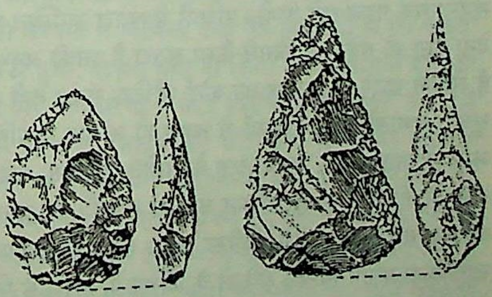

चित्र (ख)

यहां दिये गये चित्र (क) में संभवतः चार लाख वर्ष पूर्व का एच्युलियन (हस्त परस) है और चित्र (ख) में ढाई लाख वर्ष पूर्व के इन्हीं के परिवर्धित रूप हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनुष्य के दिमाग के अवधारणात्मक एवं भाषाई विकास के साथ चार स्थितियाँ जुड़ी होती हैं। 1. निशान (Index), 2. संकेत (Signal), 3. प्रतीक (Symbol) और 4. चिह्न (Sign)। इनमें पहली में निशान के साथ उस वस्तु या स्थिति का, जिसकी ओर यह इशारा करता है, सीधा भौतिक संबंध होता है। जैसे पैर के चिह्न से यह अंदाज कि कोई विशेष पशु चला होगा। यह निश्चित रूप से अनुमान किया जा सकता है कि प्रारंभिक शिकारी जीवन में ऐसे निशानों का अत्यधिक संबंध मनुष्य के अस्तित्व से रहा होगा। बाघ जैसे हिंसक पशुओं के पद-चिह्नों को देख वह सावधान हो अपनी रक्षा के उपाय में लग जाता होगा। इसी तरह हिरण या खरगोश जैसे जीवों के पद-चिह्नों के सहारे वह उनकी तलाश उन्हें मारकर क्षुधापूर्ति करने के लिए करता होगा। आदमी की प्रथम अवधारणात्मक क्षमता का विकास इसी तरह हुआ होगा। सामने के कुछ निशानों को देख किसी अनुपस्थित पशु की उपस्थिति का अनुमान करना आदमी की कल्पना शक्ति पर ऐसा दबाव डालता होगा जिससे आदमी का मस्तिष्क उत्तरोत्तर अधिक कल्पनाशील बनता रहा है और उसकी अवधारणात्मक शक्ति का विकास होता रहा है। अन्य शिकारी जीव भी घ्राण शक्ति के सहारे ख़ास तरह की गंध से ख़ास तरह के पशुओं की उपस्थिति का अनुमान करते हैं। इस तरह निशान से गन्तव्य तक पहुँचने की अवधारणात्मक शक्ति आदमी को अन्य जीवों से भिन्न नहीं बनाती। लेकिन इससे आगे बढ़ आदमी संकेतों के सहारे वस्तुओं और स्थितियों का अनुमान करने लगा। संकेत निशान से इस अर्थ में थोड़ा भिन्न है कि इसका निर्दिष्ट वस्तु से वैसा सीधा भौतिक संबंध नहीं होता जैसा पद-चिह्न से पशु का। रेल के छूटने के समय हरी झंडी दिखलाना ऐसा ही संकेत है। हरी झंडी का गाड़ी छूटने से कोई अनिवार्य या भौतिक संबंध नहीं है। परंपरा से हरी झंडी और गाड़ी का छूटना जुड़ गये हैं और इस तरह हम हरी झंडी से गाड़ी छूटने का अनुमान कर लेते हैं। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक पावलोव के मशहूर प्रयोग में घंटी की आवाज से कुत्ते में भोजन की आशा से लार टपकना ऐसे ही संकेत का उदाहरण है। संकेत मानवजनित होते हैं और शायद अपने आदिम काल में संप्रेषण के क्षेत्र में यही सर्जनात्मक पहल रही होगी। पक्षियों में ख़तरा उपस्थित होने पर ख़ास तरह की आवाज देना ऐसा ही संकेत है जिससे कैसा ख़तरा है इसकी अनुभूति दूसरे पक्षियों को हो जाती है लेकिन ख़तरे से आवाज का कोई भौतिक संबंध नहीं होता। यह एक दर्जा ऊपर की सूचना प्रणाली है जो मनुष्यों में बहुत ही अधिक विकसित हुई है। विवाह, मृत्यु, युद्ध आदि के अवसरों पर अलग तरह के संगीत, लिबास, झंडे सभी ऐसे संकेत हैं जो हमारी संस्कृति की विरासत के अभिन्न अंग बन गये हैं। यह इतना व्यापक है कि मनोवैज्ञानिकों का एक समूह, जिसे 'बिहेविरिस्ट' कहा जाता है, यह मान कर चलता है कि मनुष्य के सारे क्रियाकलाप विविध संकेतों के जीवन के प्रारंभ से निरंतर होने वाले ऐसे ही प्रक्षेपों के परिणाम हैं और मानव मन (Mind) जैसी कोई वस्तु है ही नहीं। सामूहिक शिकारी मनुष्यों के लिए शिकार के समय एक-दूसरे को पशुओं की स्थिति के संबंध में सूचना दे, आपसी क्रियाकलाप को समन्वित करने के लिए ऐसे संकेतों का बहुत ही महत्त्व रहा होगा। इसके लिए स्थिति के अनुसार तरह-तरह के शब्दहीन इशारे या आवाज किसी भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सूचना के माध्यम होते होंगे। लेकिन ऐसे संकेतों की सीमा यह होती है कि ये तात्कालिक स्थितियों से बंधे होते हैं। इनसे स्थायी रूप से अवधारणा का आधार नहीं बनता।

इससे एक कदम आगे बढ़ आदमी की सूचना प्रक्रिया में प्रतीकों का प्रवेश होता है। मनुष्य की सूचना-प्रक्रिया में प्रतीकों के प्रवेश से आदमी की अवधारणात्मक शक्ति, समय और विस्तार दोनों की सीमाओं से मुक्त हो जाती है। सच कहा जाय तो प्रतीकों के आगमन से ही सही अर्थ में अवधारणा का उन्मेष होता है। लेकिन अवधारणा पर पहुँचने के पहले प्रतीक भी ठोस भाव-भंगिमा या किसी ठोस वस्तु से किसी वस्तु या स्थिति का बोध कराते हैं। लेकिन धीरे-धीरे बोध की प्रक्रिया अमूर्त हो जाती है और असली अवधारणा का जन्म होता है। अवधारणा की उत्पत्ति कुछ इस तरह समझी जा सकती है। शिकार करते हुए आदमी एक बाघ को देखता है। उसकी हमला करने की, छलाँग लगाने की, भागने की, दौड़ने की स्थितियों से वह परिचित होता है। ये तात्कालिक स्थितियाँ उसके मन पर अंकित होती हैं लेकिन आँखों से ओझल होते ही फिर विलीन हो जाती हैं। फिर किसी दूसरी स्थिति में कोई दूसरा बाघ जो बहुत कुछ पहले बाघ से मिलता-जुलता लेकिन आकार या अन्य किसी दूसरे गुण में थोड़ा भिन्न दिखाई देता है। आँख से ओझल होने पर फिर उसकी छवि विलीन हो जाती है। ऐसे अनेक अनुभवों से मन पर एक ऐसे वर्ग की चेतना अंकित होती है जो इनमें किसी एक की स्थिति से एकाकार नहीं है लेकिन जिसकी झलक इन सब में दिखाई देती है—यानी 'बाघपन' की झलक। प्रारंभ में मनुष्य के कुछ अपने हाव-भाव या बाहरी वस्तु से इसका प्रतिनिधित्व हो सकता है। यहीं से बाघ की अवधारणा की उत्पत्ति होती है। अगर गणित का उदाहरण लें तो यह अवधारणा बाघ से संबंधित सभी अनुभवों के 'लोकस' के रूप में प्रकट होती है। चूँकि यह वैसे सभी बाघों से अलग है जिनसे आदमी का साक्षात्कार हुआ। यह साक्षात्कार की ठोस स्थितियों से मुक्त है। यह अमूर्तन की प्रक्रिया है जो ठोस वस्तुओं से अलग एक मानसिक अस्तित्व को जन्म देती है। यह पूरी तरह मानव मन में निवास करती है जिसे वह अपनी कल्पना में विभिन्न तरह की स्थितियों में रख सकता है। उसे छोटा, बड़ा, मझोला, बैठा हुआ, दौड़ता हुआ या किसी अन्य स्थिति में होने की कल्पना कर सकता है। फिर भी ऐसी अवधारणा में कोई स्थायित्व नहीं आता जब तक आदमी में भाषा का विकास नहीं होता और आदमी इसे कोई नाम नहीं देता। भाषा के विकास के पहले भी निश्चित रूप से मनुष्य भाव-भंगिमाओं और इशारों से बाघ की अवधारणा को अभिव्यक्ति देता होगा, क्योंकि ऐसा संप्रेषण आदिमानवों के अस्तित्व के लिए अत्यधिक महत्त्व का था। ऐसी अभिव्यक्ति शुद्ध रूप से प्रतीकात्मक होती है। नृत्यों के माध्यम से एक पूरी स्थिति का विवरण संप्रेषित किया जा सकता है। आज भी नृत्य प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का सबसे सक्षम माध्यम है। प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का दूसरा माध्यम चित्रकला है। प्राचीन प्रस्तरयुग के स्पेन की अल्तामीरा गुफा में पशुओं के चित्र निश्चित रूप से शिकार से संबंधित अवधारणा की सशक्त प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हैं। एक बार नाम पा लेने के बाद अवधारणा पूर्ण और स्थायी रूप से सामूहिक संपत्ति बन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जाती है। अब आदमी अपनी अवधारणा को शब्दों के द्वारा दूसरे मनुष्यों को संप्रेषित कर सकता है। यहाँ पहुँचकर अवधारणा संपूर्णता हासिल करती है। अवधारणा का स्वतंत्र अस्तित्व भाषा के साथ गहरे रूप से जुड़ा हुआ है।

भाषा के शब्द मनमाने ढंग से गढ़े गए होते हैं। इनमें प्रतीकों से आगे बढ़ चिह्नों (Signs) के माध्यम से अभिव्यक्ति होती है जिनका किन्हीं बाह्य वस्तुओं से कोई साम्य नहीं होता। जिन वस्तुओं या स्थितियों को ये अभिव्यक्त करते हैं उनसे इनका कोई भौतिक संबंध नहीं होता। कुछ शब्दों का उद्भव लोग वस्तुओं के गुण को अभिव्यक्त करने वाला (ओनामोटापोयिक) बतलाते हैं। लेकिन ऐसे शब्द मनुष्य के संपूर्ण शब्द संसार में प्राय: नगण्य होते हैं। ज़्यादातर शब्द संयोग से ही मानव विकास के काल में अस्तित्व में आये। ये चिह्न मात्र हैं जिनका अभिव्यक्ति देने के अलावा अपना कोई अस्तित्व नहीं होता। इसीलिए एक ही वस्तु के अलग-अलग भाषाओं में अलग-अलग नाम पाये जाते हैं। लेकिन किसी वस्तु या स्थिति को नाम दे देने पर अर्थ निश्चित हो जाता है और आगे से लोग प्राय: इंगित वस्तु या स्थिति को पहले दिये गये अर्थ के संदर्भ में ही देखते हैं। यह भी पाया गया है कि विशेष भाषा समूह के लोगों में अगर किसी रंग या स्थिति के लिए शब्द नहीं हैं तो प्रत्यक्ष अनुभव होने पर उस रंग या स्थिति की पहचान या ज्ञान भी उनमें नहीं हो पाता। भाषा और शब्द से संप्रेषण में अर्थ की अनिश्चितता घटती है, लेकिन कभी-कभी संप्रेषण की कठिनाइयाँ भी पैदा होती हैं जब स्थिति या वस्तु में कोई गुणात्मक परिवर्तन हो जाता है। इस तरह की समस्या संस्कृति के विकास के साथ गहरे रूप से जुड़ी हुई है। लोग शब्दों के रूढ़ अर्थों से बंध कर नयी स्थितियों को समझने में अक्षम हो जाते हैं और इससे ग़लत परंपराओं की अंधभक्ति और असहिष्णुता पैदा होती है। जैसा भाषाशास्त्री कोरीजिब्सन्की ने आगाह किया था—लोग वास्तविक स्थितियों की बजाय 'लेबुल' से प्रभावित हो प्रतिक्रियाएँ करते हैं जो राष्ट्रीय या अन्य सामाजिक संघर्षों का कारण बन जाती हैं। शब्द का अर्थ तो निश्चित हो जाता है लेकिन इसके अभिप्राय का एक बड़ा प्रभामंडल होता है जिसके भीतर शब्द के अर्थ के बदलने की संभावना होती है। इसी कारण समय और अनुभव के अनुसार शब्दों के अर्थ में भी बदलाव आता है। भाषा के इसी गुण में काव्य की सर्जनात्मक शक्ति का भी उत्स होता है जिसमें तात्कालिक अर्थ से परे जा एक नये भाव या अनुभव के संसार की रचना होती है। शब्दों के अर्थ को नया आयाम देने या बदलने में पंडितों से अधिक आम लोगों की भागीदारी होती है। पंडित लोग शुद्धतावादी होते हैं और यथासंभव शब्दों के पुराने अर्थों को दूषित होने से बचाने की कोशिश करते हैं। आम लोग जीवन के प्रवाह में बिना संकोच, सुविधा के अनुसार शब्दों का नये अर्थ में व्यवहार करने लगते हैं। इस बिंदु पर कवि आम लोगों से ज़्यादा करीब होता है और अपनी भाषा में आम लोगों द्वारा व्यवहार में लाये गये अर्थों में शब्द का प्रयोग करता है।

भाषा का विकास कैसे होता है इसके संबंध में भाषाशास्त्री मोटामोटी तौर पर अभी दो खेमों में बंटे हुए हैं। चूँकि संस्कृति के आयामों के साथ भाषा के चरित्र का गहरा संबंध है, इस विवाद की कुछ चर्चा ज़रूरी लगती है। एक खेमा उनका है जो मनोविज्ञान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

और दर्शन के क्षेत्र में 'बिहेवियरिस्ट' कहे जाते हैं। ये व्यवहारों में व्यक्त क्रियाओं—जिसमें संप्रेषण भी शामिल है—से अलग किसी मानव मन के अस्तित्व को नकारते हैं। यह एक पुरानी पाश्चात्य विचार परंपरा, जिसे पोजिटिविज्म कहा जाता है, का नया रूप है। यह किसी ऐसे तत्त्व जैसे आत्मा, मन या पदार्थ के अस्तित्व को नकारता है जो कभी प्रत्यक्ष अनुभव के क्षेत्र में नहीं आता। इनके लिए भाषा का ज्ञान ठीक वैसा ही है जैसा बारबार दुहराये गये अनुभवों से कोई दूसरी क्षमता प्राप्त होती है—पावलोव के सुप्रसिद्ध प्रयोग में घंटी के साथ भोजन की उपलब्धि की आशा जैसा। ये मानते हैं कि भाषा भी इसी तरह बचपन से ही किसी भाषाई समूह में रहने से, दिन-रात कुछ शब्द-समूहों का अनुभवों से जुड़ने (एसोसियेशन) से सीखी जाती है। इस सिद्धान्त के अनुसार आदमी की भाषा क्षमता उतनी ही हो सकती है जितनी उसने जीवन के अनुभवों से सीखी है। यह बहुत कुछ तोते द्वारा आदमी की बोली सीखने जैसा है, हालाँकि इसका दायरा विशाल है। यह सिद्धान्त कबूल कर लेने से भाषा की सर्जनात्मक क्षमता पर बहुत बड़ी सीमा लग जाती है। लेकिन यह सिद्धान्त लोगों के भाषा संबंधी अनुभव से इतना विपरीत है कि इस सिद्धान्त पर प्रश्नचिह्न लगना अवश्यंभावी था। बीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में भाषा शास्त्रियों के एक समूह ने जिसका सबसे प्रमुख प्रवक्ता नोम चोम्सकी है, भाषा की सर्जनात्मकता का उदाहरण पेश कर इस सिद्धान्त को पूरी तरह नकार दिया। उसने यह तर्क दिया कि इस सिद्धान्त को मान लेने पर इस तथ्य को समझना असंभव है कि आदमी लगातार ऐसे वाक्य बनाता रहता है जिनसे उसका कभी साक्षात्कार नहीं हुआ। सब से बढ़ कर चोम्सकी ने लोगों का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचा कि बच्चे जब भाषा सीखने की उम्र हासिल करते हैं तब बहुत थोड़े वाक्यों से अपने साक्षात्कार के आधार पर वे भाषा के व्याकरण को आत्मसात कर लेते हैं और इसके आधार पर व्याकरण की दृष्टि से मान्य नये वाक्य बनाना शुरू कर देते हैं, ऐसे वाक्य जिनका उनको कोई पूर्व अनुभव नहीं होता। भाषा के तीन तत्त्व फोनेटिक्स (ध्वनितंत्र), सेमांटिक्स (अर्थ ज्ञान) और सिन्टैक्स (व्याकरण) में सर्जनशीलता का आधार मूलत: व्याकरण है जिसके आधार पर बिना सीमा के नये तरह के वाक्य बनाये जा सकते हैं। इसलिए विवाद का मुख्य केन्द्रबिन्दु सिन्टैक्स या व्याकरण ही बना। चोम्सकी और भी आगे बढ़ कर यह दावा करता है कि आदमी व्याकरण का ज्ञान इतनी आसानी से इसलिए हासिल करता है क्योंकि उसके मन में एक सार्वजनीन व्याकरण (युनिवर्सल ग्रामर) अंकित है और अपने भाषा समूह के अनुभव से वह सिर्फ़ यही तय करता है कि इस मूल व्याकरण का कौन-सा रूप वह अपनी भाषा के संदर्भ में ग्रहण करे। अब मन और भाषा के विकास के संबंध को लेकर अध्ययन का एक नया क्षेत्र खुल गया जिसे साइकोलिंगयुस्टिक्स (भाषा मनोविज्ञान) कहा जाने लगा। इस बिंदु पर फिर एक नया विवाद शुरू हो गया। अनेक भाषाशास्त्री जो बिहेवियरिस्टों के सिद्धान्त को नकारते हैं और भाषा की सर्जनशीलता को कबूल करते हैं, मन में जन्म से ही अंकित किसी ऐसे सार्वजनीन व्याकरण के अस्तित्व को कबूल करने से कतराते हैं।

चोम्सकी के सिद्धान्त में प्लेटो एवं देकार्त की अवधारणाओं की मान्यता दिखायी देती है जिसके अनुसार निर्विकार प्रत्यय की उपस्थिति को प्राथमिकता दी जाती है, और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जो कुछ भी अनुभव के क्षेत्र में आता है वह उसकी विकारपूर्ण अभिव्यक्ति मानी जाती है। इस हिसाब से एक दोषहीन व्याकरण मन में पहले से उपस्थित है और उसी के आधार पर भाषा की वैसी संरचना होती है जो हमारे दैनन्दिन के अनुभव के क्षेत्र में दिखायी देती है। यह विचार ग़ैर-बिहेवियरिस्ट भाषाशास्त्रियों के भी एक बड़े हिस्से को मान्य नहीं है। इस विचार से ऐसा लगता है मानो भाषा अचानक अधर से लोगों के मन में आ गयी। यह मनुष्य की क्षमताओं की विकास प्रक्रिया का परिणाम नहीं जान पड़ती। इसकी एक व्याख्या यह हो सकती है कि जैसे पक्षियों में जटिल प्रक्रिया से घोंसला बनाने का कौशल या मधुमक्खियों का अपना छत्ता बनाने का कौशल सहज प्रवृत्ति से आता है वैसे ही व्याकरण ज्ञान भी एक सहज प्रवृत्ति का परिणाम है। लेकिन यह मान लेने पर फिर भाषा की सर्जनशीलता पर प्रश्नचिह्न लग जाता है जिस गुण के चलते बिहेवियरिस्ट सिद्धान्त को भाषा के क्षेत्र में अस्वीकार किया जाता है। क्योंकि सहज प्रवृत्ति से परिचालित व्यवहार सदा एक अपरिवर्तनीय लीक पर चलता है। विभिन्न परिस्थितियों के अनुरूप वाक्यों का निर्माण, जिससे बदलते परिवेश की सभी जटिलताएँ पूरी तरह से अभिव्यक्त हो जाती हैं, सहज प्रवृत्ति से नियंत्रित भाषा से संभव नहीं लगती।

इन बातों को ध्यान में रखते हुए भाषा-मनोविज्ञान के क्षेत्र में सक्रिय कुछ भाषा शास्त्रियों ने भाषा के विकास को मनुष्य की दूसरी क्षमताओं—जैसे चलने, बोलने, स्नायुओं और अंगों की गति को समन्वित करने और विशेषकर अवधारणात्मक क्षमताओं के विकास के साथ जोड़ा। इस दिशा में उन्होंने शिशुओं के विकास के विविध आयामों का अध्ययन करने वाले विख्यात मनोवैज्ञानिक जाँ पियाजे के अध्ययनों के परिणामों को आधार बनाकर अनेक प्रयोग किये। उनके अनुसार इन प्रयोगों से ऐसा ज्ञात होता है कि अवधारणा की क्षमता का विकास धीरे-धीरे होता है—इसके एक स्तर पर अमूर्तन की प्रक्रिया से प्रतीकों का जन्म होता है। शुरू में यह बीती घटना की ठोस नकल—जो घटना के बाद होती है—जैसे व्यवहारों से व्यक्त होता है। पियाजे के एक अध्ययन में शिशु के पास पड़ोस का कोई शिशु आता है और जोर-जोर से रोने लगता है। उसके जाने के बाद उसे देखने वाला पहला शिशु नकल में अकारण रोने लगता है। पियाजे के अनुसार यह दूसरे शिशु के रोने की एक प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का नमूना है। एल.एस. वाईगोट्स्की तथा उनके रूसी सहयोगियों ने छोटे शिशुओं से लेकर किशोरावस्था में प्रवेश की आयु तक के शिशुओं पर विभिन्न आकार और रंग के बने काठ के टुकड़ों को अर्थहीन बनावटी नाम देकर उनसे किये गये प्रयोगों में यह पाया कि बार-बार उलटने और उन पर लिखे गये नामों को देखने के अनुभवों से धीरे-धीरे बच्चे अमूर्तन प्रक्रिया एवं निश्चित अवधारणा की ओर बढ़ते हैं। यह भी पाया गया कि अवधारणात्मक क्षमता और सही अर्थ में भाषा की क्षमता एक ख़ास आयु 12 वर्ष के आसपास विकसित होती है। इसके पहले एक छद्म अवधारणा (स्युडो-कन्सेप्ट) का स्तर आता है। लेकिन इस विकास में विभिन्न स्तरों पर होने वाले अनुभवों का विशेष हाथ होता है। भाषा का विकास इन मनोवैज्ञानिकों की दृष्टि में शिशु की सभी क्षमताओं के विकास की अगली और अनिवार्य कड़ी होता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाषा के विकास संबंधी इस सिद्धान्त का महत्त्व इस बात से भी है कि हम भाषा के विकास को मानव विकास की पूरी परंपरा के साथ जोड़ कर देख सकते हैं, और समझ सकते हैं कि किन स्थितियों में यह विकास हुआ होगा। जिस तरह मानव भ्रूण का विकास जीवन के विकास के अनेक स्तरों को भी थोड़ा प्रतिबिंबित करता है उसी तरह बचपन में आदमी की अवधारणात्मक और भाषाई क्षमता के विकास के अध्ययन से हम एक झलक उन स्थितियों की भी पा सकते हैं जिनमें हमारे पूर्वजों ने भाषा विकसित की होगी।

फिर भी एक समस्या रह जाती है। चोम्सकी ने भाषाओं की बनावट में एक सीढ़ीनुमा शृंखला (हाइरार्किकल स्ट्रक्चर) की बात की है जो अब तक अध्ययन की गयी सभी भाषाओं में पायी जाती है। चोम्सकी के अनुसार यह मानव मन में अंकित उस वैयाकरणिक शृंखला की अभिव्यक्ति है जो जन्म से सभी मनुष्यों में होती है। उसके अनुसार यह सिंटैक्टिकल यूनिवर्सल (व्याकरण की सार्वजनीनता) की अभिव्यक्ति है। लेकिन एक भाषाशास्त्री ज्योफ्री जोन्स ने अपनी पुस्तक 'मेकिंग सेंस' में, नोबेल पुरस्कार विजेता हर्बर्ट सिमोन्स के शोध का हवाला देते हुए कहा है कि सांख्यिकी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अधिक सक्षमता की मांग के कारण सभी तरह की संरचना, चाहे वह जैविकी के क्षेत्र में हो, चाहे मानव समूहों के क्षेत्र में हो, चाहे भाषा की व्याकरणीय बनावट के क्षेत्र में, ऐसा सीढ़ीनुमा रूप ही लेंगी। या यों कहें कि रूप तो कुछ भी ले सकती है लेकिन सक्षमता के लिए सीढ़ीनुमा (हाइरार्किकल) आकार ही ग्रहण कर दूसरी तरह की संरचनाओं से प्रतिस्पर्धा में टिक सकती है। भाषाशास्त्रियों में चोम्सकी का विचार विवाद का विषय बना हुआ है और अभी वे किसी अंतिम सहमति पर नहीं आ पाये हैं। फिर भी व्याकरण का उत्स चाहे जो भी हो इसकी सर्जनशीलता पर कोई आंच नहीं आती।

इस विवाद का एक समाधान यह हो सकता है कि हम यह मान कर चलें कि सूचनात्मक मितव्ययिता किसी भी वैज्ञानिक या गणित के सिद्धान्त का आधार है : क्योंकि किसी फार्मूले या सिद्धान्त के जरिये ये अध्ययन के एक विस्तृत क्षेत्र को प्रतीकों की बहुत ही संक्षिप्त प्रस्तुति से हमारी समझ के दायरे में ला देते हैं। कोई अचरज नहीं कि मानव विकास के साथ भाषा के माध्यम से विविध स्थितियों को मस्तिष्क में संचित रखने और उन्हें संप्रेषित करने के लिए गणित या विज्ञान के फार्मूले की तरह ही भाषा के व्यवहार को भी नियमबद्ध करने की प्रक्रिया विकसित हो। सरलता और मितव्ययिता के हिसाब से अगर सभी भाषाओं की बनावट में कुछ साम्य हो तो कोई अचरज नहीं। इसके लिए अगर किसी जन्मजात गुण को अनिवार्य माना जा सकता है तो सामान्यीकरण (जेनरलाइजेशन) की प्रक्रिया को जो संप्रेषित हो सकने वाले ज्ञान के सभी क्षेत्रों में देखी जा सकती है। भाषा की तरह ही गणित में भी कुछ बुनियादी नियम जैसे जोड़ या घटाव को सीख जाने पर असंख्य जोड़ या घटाव करना एक बच्चे के लिए संभव हो जाता है। दोनों ही नियमबद्ध करने की बुनियादी क्षमता की अभिव्यक्ति हैं। चोम्सकी के विचार को मान लेने पर तो गणित के सारे सिद्धान्तों को भी जन्मजात मान लेना होगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भाषा से लेकर विज्ञान और गणित तक के पीछे एक ही तरह क्षमता की संभावना स्वयं चोम्सकी के आलेख, 'Linguistic Contribution to the Study of Mind' में अमरीकी दार्शनिक पीयर्स के विचारों की चर्चा से भी प्रकट होती है, हालाँकि चोम्सकी ने उसका अलग निष्कर्ष निकाला है। पीयर्स ने इस बात पर अचरज जताया था कि ऐसा क्यों है कि अपने हजारों साल के विशाल अनुभव में मनुष्य ने इने-गिने सही सिद्धान्तों को ही खोज निकाला? इसी बात को आगे बढ़ा कर चोम्सकी पूछता है, 'चार साल के बच्चे के दिमाग में भाषा का सही सिद्धान्त कैसे पैदा हो गया?' यही तो इसी संभावना की ओर इशारा करता है कि मनुष्य में सूचना संबंधी मितव्ययिता की एक ही तरह की क्षमता है, जो विज्ञान और गणित से लेकर भाषा तक के विकास में दिखाई देती है।

हमने ऊपर कहा है कि भाषा की सर्जनशीलता में सबसे प्रमुख हाथ किसी भाषा के व्याकरण का होता है। व्याकरण पर अधिकार होने पर आदमी व्याकरण के नियम का पालन करते हुए वैसे किसी भी वाक्य का निर्माण कर सकता है जिसमें व्यक्त स्थिति का भौतिक जगत् की हकीकत से किसी तरह का मेल नहीं बैठता। उदाहरण के लिए यह वाक्य लें—'सूर्य एक आकर्षक फल है।' व्याकरण की दृष्टि से यह एक निर्दोष वाक्य है। लेकिन तथ्यात्मक दृष्टि से अनर्गल, क्योंकि हम जानते हैं कि सूर्य अत्यंत ही गर्म गैसों एवं प्लाजमा का अति विशाल पुंज है। लेकिन भारतीय मिथक में हनुमान की यह कथा प्रचलित है कि हनुमान ने मधुर फल समझ कर सूर्य को निगल लिया था। भारत के करोड़ों लोगों के लिए यह कथा हनुमान के पराक्रम का वर्णन है और उनके अनेकों व्यवहार इस कथन से प्राप्त 'ज्ञान' पर आधारित हैं। व्याकरणीय क्षमता के कारण मनुष्य भाषा के द्वारा किसी भी तरह की काल्पनिक दुनिया का निर्माण कर सकता है—जिसमें कोई आगे बढ़ने की प्रेरणा दे सकती है, कोई कुछ लोगों को शैतान बना सकती है और कुछ शुद्ध रूप से मनोरंजन दे सकती हैं। अंग्रेजी साहित्यकार ऑस्कर वाइल्ड ने तो एक महत्त्वपूर्ण निबंध ही झूठ के बचाव में लिख डाला था। उसने यह बतलाने की कोशिश की थी कि सारा साहित्य जगत् झूठ पर आधारित है। असल में इसका अर्थ इतना ही है कि सारा साहित्य जगत् भाषा के सर्जनात्मक गुण के कारण ऐसे वाक्यों एवं कथाओं से भरा है जिसका तथ्यों से कोई नाता नहीं बैठता। फिर भी भाषा की क्षमता के कारण यह संभव हो जाता है। इस तरह जहाँ भाषा उदात्त आदर्शों को अभिव्यक्ति देती है और लोगों को इनके लिए प्रेरित करती है वहीं भाषा से ही झूठ का भी जन्म होता है। छद्म तो अपने तात्कालिक रूप में पशु जगत् के व्यवहारों में भी होता है लेकिन जटिल और व्यवस्थित झूठ के तानेबाने की संभावना भाषा के माध्यम से ही संभव है जो मानव जीवन की विशेषता है और अभिशाप भी।

सच तो यह है कि मन (माइन्ड) और प्रत्यय (आइडिया) का अस्तित्व भाषा के विकास से ही जुड़ा हुआ है। जो हमारी निजी अनुभूतियाँ होती हैं उनका कोई स्थायी या वास्तविक अस्तित्व तब तक नहीं होता जब तक भाषा का विकास नहीं होता। पानी की तरंगों की तरह वे क्षण-क्षण हमारे निजी अनुभव में प्रवेश करती हैं और विलीन हो जाती हैं। भाषा के विकास के साथ हम अपने निजी अनुभवों का संप्रेषण कर सकते हैं और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इनमें वे जो दूसरों के अनुभव क्षेत्र में भी उपस्थित होते हैं (सपने या अन्य क्षणिक आवेग नहीं, जो पूर्णतः निजी हैं); संप्रेषण की प्रक्रिया से एक स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण करते हैं। इसमें संसार की वे सभी वस्तुएँ और मानसिक स्थितियाँ शामिल होती हैं जो अनेक लोगों के अनुभवों में होती हैं और भाषा के जरिये, पारस्परिक संवाद के जरिये हम जिनको नाम दें उनके स्वतंत्र अस्तित्व का निर्माण करते हैं। यही प्रत्ययों का संसार बनाता है जो हमारे भौतिक अस्तित्व से अलग एक स्वतंत्र अस्तित्व ग्रहण करता है। चूँकि यह अनिवार्य रूप से अमूर्तन की प्रक्रिया से अस्तित्व में आता है यह विकारहीन होता है। यही प्लेटो का प्रत्ययों का संसार है जिसकी विकारयुक्त अभिव्यक्ति वह बाहरी वस्तु जगत् में देखता है। जिसे हम 'मन' या 'माइन्ड' कहते हैं वह और कुछ नहीं, व्यक्तिगत अनुभव प्रक्रिया पर सामूहिक रूप से प्रत्यारोपित सामूहिक अनुभवों का वाहक अनुभूति तंत्र है।

मन (माइन्ड) तथा पदार्थ (मैटर) का विवाद सदियों से अनसुलझा है। इस संदर्भ में महज पाँच पंक्तियों में मन क्या है बतलाना शायद समाधानकारी नहीं होगा। इसलिए इसे थोड़ा विस्तार से बतलाना ज़रूरी लगता है। दरअसल मन क्या है, यह समझना एक पहेली इसलिए बनी रही क्योंकि इसे भौतिकवादी तथा प्रत्ययवादी दो विपरीत विचारों से प्रस्तुत करने की कोशिश होती रही। भौतिकवादी दृष्टि से मस्तिष्क के कार्य-कलापों का कितना ही सूक्ष्म अध्ययन मन की उपस्थिति को समझने के लिए होता हो एक बिन्दु के बाद एक ऐसी खाई पैदा हो जाती है कि इसे लांघ कर मन तक पहुँचना असंभव हो जाता है। इसी तरह प्रत्ययवादियों के पास कोई भी तर्क नहीं रहा है जिससे वे यह बतला सकें कि अभौतिक अस्तित्व 'मन' भौतिक मस्तिष्क और इसके माध्यम से मानव शरीर को कैसे प्रभावित कर सकता है। मस्तिष्क को प्रभावित करने वाले जो भी माध्यम हैं—जैसे भाषा, इशारे, रंग या गंध आदि सभी भौतिक तत्त्वों से बने हैं जिनसे मन को जोड़ने वाला कोई सेतु नहीं है। इस विवाद को सतरहवीं शताब्दी के दार्शनिक रेने देकार्त ने जिस रूप में प्रस्तुत किया था उससे आगे बात बढ़ नहीं पायी। उसने यह पूरी तरह स्वीकार किया कि मस्तिष्क समेत मानव शरीर एक मशीन है। लेकिन वह चैतन्य मन की सर्वोपरि सत्ता को भी स्वीकार करता था जो उसकी प्रसिद्ध उक्ति, 'मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ', में उद्घोषित होती थी। इस तरह उसने मन और पदार्थ दोनों के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया। पर साथ ही, यह विश्वास भी व्यक्त किया कि किसी तरह मन ही शरीर रूपी मशीन को परिचालित करता है। लेकिन यह कैसे हो पाता है यह एक पहेली बनी रही। उसे इन्हें जोड़ने वाला सूत्र ईश्वर दिखा। लेकिन यह समस्या को टालना भर था।

लेकिन इस पहेली को सहज ही सुलझाया जा सकता है अगर हम मन को भाषाई समुदाय के विकास के साथ जोड़ कर देखें, जैसा ऊपर किया गया है। मनुष्य का मस्तिष्क स्नायुओं के एक अत्यन्त ही जटिल ताने-बाने का केन्द्र है। वह संवेदनात्मक (सेंसोरी) एवं गत्यात्मक (मोटर) स्नायुओं से शरीर के सभी अंगों से जुड़ा होता है। स्नायु-संस्थान इलेक्ट्रॉनिक सर्किट की तरह 'इनपुट-आउटपुट' प्रक्रिया से जुड़ा होता है। इसी से हमारे शरीर पर कहीं चोट लगती है तो हम चिल्ला पड़ते हैं। यहाँ इनपुट के छोर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

पर पदार्थ का संघात होता है। लेकिन एक भाषाई समूह में जहाँ, जैसा हमने देखा है, भाषा अवधारणाओं को अभिव्यक्त करती है—अवधारणाएँ ही 'इनपुट' बन जाती हैं। अगर कोई किसी को सूचना देता है कि उसका मित्र मर गया तो बिना किसी भौतिक आघात के वह विह्वल होने लगता है। दरअसल 'मन' का नाम हम ऐसी ही प्रक्रियाओं के अभौतिक कारकों को देते हैं। यह भाषा के व्याकरण का कमाल है कि अनेक प्रक्रियाओं को संज्ञा बना एक अस्तित्व प्रदान कर देता है। इस तरह के दूसरे उदाहरण जिन्हें हम सहज भाव से स्वीकार करते हैं, 'मित्रता', 'दया' आदि भाववाचक संज्ञा हैं। दरअसल ये हमारे व्यवहार की प्रक्रियाओं के नाम हैं। कुछ ख़ास तरह के व्यवहारों के समुच्चय को 'मित्रतापूर्ण' माना जाता है, दूसरी तरह के व्यवहारों के समुच्चय को दयापूर्ण। वास्तविक जीवन में ये प्रक्रियाएँ मात्र ही हैं जिन्हें वर्गीकृत किया गया है। लेकिन ऐसे वाक्यों में, 'मित्रता एक अत्यन्त ही उदात्त चीज़ है' या 'दया ही धर्म है' इन प्रक्रियाओं को एक स्वतंत्र अस्तित्व प्रदान कर दिया जाता है। ठीक इसी तरह मस्तिष्क की स्नायु-संस्थान को अवधारणाओं के संप्रेषण से (जो भाषा के द्वारा होता है) गतिशील कर सकने की क्षमता के कारण 'मन' के स्वतंत्र अस्तित्व की धारणा पैदा होती है। इसीलिए कम्प्युटर और मन की तुलना करना, जो आजकल फैशन में है, अर्थहीन है, जब तक अवधारणा की क्षमता वाले कम्प्युटरों का भी एक भाषायी समूह अस्तित्व में नहीं आ जाता। लेकिन अवधारणा का जन्म एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है जिसमें इन्द्रियजन्य बहुआयामी छवि और भावानुभूति दोनों का योगदान होता है। यह तर्क और संवेदन दोनों से युक्त जीव में ही संभव है।

हम ऊपर बतला आये हैं कि संस्कृति विकास के एक ऊँचे स्तर पर मनुष्य के निजी और सामूहिक जीवन को नियमित करने की वही भूमिका अदा करती है जो अन्य जीवों में और विकास की प्रारंभिक अवस्था में मनुष्यों में भी आनुवंशिकी अदा करती है। मूलतः इसी के प्रभाव में मनुष्य के निजी एवं सामाजिक कार्यकलाप निर्धारित होते हैं। आनुवंशिकी में जीवन को स्वरूप देने में सूचना संचय और संप्रेषण का स्रोत जीन होता है। संस्कृति में सूचनाओं का ऐसा स्रोत होता है मनुष्य की परंपरा। मानव संस्कृति के आदिकाल में छोटे समूहों में रहने वाले मानवों की निकटता पीढ़ी-दर-पीढ़ी अग्रजों की नकल और साहचर्य से उस ज्ञान का संप्रेषण संभव बनाती थी जो जीवन के लिए आवश्यक था। यह दूसरे विकसित जीवों, विशेषकर स्तनपायियों की प्रशिक्षण प्रक्रिया से बहुत भिन्न नहीं रही होगी। इस काल में जीवन के तौर-तरीके और रहन-सहन में एक स्थायित्व रहा होगा। नये आविष्कार दुर्लभ रहे होंगे और ऐसे हर आविष्कार को बड़े यत्न से संजोया जाता होगा। ऐसे संचित आविष्कारों को एक परंपरा में पिरोया जाता होगा जिसे नयी पीढ़ी ग्रहण करती होगी।[1] परंपरा के प्रति गहरा भावनात्मक लगाव जीवन के

1. एच्युलियन हस्त परस (हैन्ड एक्स) का हजारों वर्ष तक अपने विशेष रूप में दूर-दूराज स्थानों पर पाया जाना बतलाता है कि आविष्कार की गति कितनी धीमी रही होगी और इसको बचाये रखना कितना महत्त्वपूर्ण।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा होगा, और आज भी परंपरा के प्रति लगाव की वह विरासत हम ढो रहे हैं। चूँकि हमारे विकास के लिए इसका केन्द्रीय स्थान है इसीलिए शायद इस लगाव का गुण हमारी आनुवंशिकी का अंग बन गया है और हम अनायास ही इससे प्रभावित होते रहते हैं।

प्रतीकों का सहारा लेने से परंपरा को संप्रेषित करने का दायरा एकाएक काफ़ी विस्तृत हो गया होगा। इस काल में नृत्य, संगीत, चित्रकला एवं मूर्तिकला अभिव्यक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन बन गये होंगे। इस का नमूना हम वीनस ऑफ डुसेलडॉर्फ की मूर्ति तथा त्रोवा फ्रेर (चित्र 4) और अल्तामीरा गुफा के भित्ति चित्रों में पाते हैं। संगीत और नृत्य की तो हम कल्पना भर कर सकते हैं। इनका काल आज से बीस से तीस हजार वर्ष पहले का अनुमानित है। निश्चित रूप से उस समय तक जादू, टोना, जादूगर आदि वैसे कर्मकाण्डों से जुड़ गये थे जो समूह को बांधे रखने और नेतृत्व प्रदान करने का काम करते थे। इस काल तक अपने प्राथमिक रूप में भाषा का भी विकास अवश्य हुआ होगा। कुछ शब्दों का प्रयोग वैसा ही होता होगा जैसा आज भी अत्यंत छोटे बच्चे करते हैं जिसमें प्राय: वे एक शब्द से एक संपूर्ण इच्छा या अवस्था को संप्रेषित करते हैं। इन शब्दों को अक्षुण्ण रखने का भी आग्रह रहा होगा क्योंकि ये संप्रेषण की बहुमूल्य निधि रहे होंगे। मंत्रों को अपरिवर्तित रूप में बारबार दुहराने की परंपरा अतीत की ऐसी ही विरासत लगती है। शब्द छीज न जाय या खो न जाय यह सबों के लिए समान चिंता का विषय रहा होगा। शब्द ब्रह्म की कल्पना या फिर संत जॉन का गौस्पेल में यह कहना, 'प्रारंभ में शब्द था और शब्द ईश्वर के साथ था और शब्द ही ईश्वर था' शब्दों के साथ किसी ऐसे आदिम लगाव की अनुगूंज ही मालूम होती है। आज भी मिथकों में या मंत्र-जाप में शब्दों को बिना उनके क्रम को बदले बारबार दुहराने की प्रवृत्ति प्राय: सभी समूहों में है। सूचना के सही संप्रेषण के लिए उसका ह्रास (जिसे आज नॉइज का हस्तक्षेप कहा जायेगा) अत्यंत ही मारक है और यह अनुभूति हमारे पूर्वजों को विशेष रूप से रही होगी जिनका शब्द भंडार सीमित लेकिन जीवन के लिए निर्णायक था।

इस स्थिति में एक सर्वाधिक मौलिक परिवर्तन तब हुआ जब आज से लगभग पांच-छ: हजार वर्ष पहले नदी-घाटियों में सभ्यता का जन्म हुआ और शब्दों को लिपिबद्ध करने के ज्ञान का उदय हुआ। अब शब्द और इसके साथ सूचनाएँ शरीर से बाहर संचित की जा सकती थीं। इस क्षमता से न सिर्फ़ संप्रेषण की संभावना बढ़ी बल्कि अब ऐसे लोगों से सूचना ग्रहण की जा सकती थी या ऐसे लोगों को सूचना भेजी जा सकती थी जो स्थान और समय दोनों के हिसाब से हमारी तात्कालिक पहुँच के बाहर थे। दूर-दराज के सगे-संबंधियों से संदेश पाया जा सकता था और उन्हें संदेश भेजा जा सकता था। लेकिन इससे भी बढ़ कर चालू घटनाओं के रेकार्ड रखे जा सकते थे जो आने वाली पीढ़ियों के काम आते। अब परंपराओं को अगली पीढ़ी तक पहुँचाने के लिए शब्दों का जुबानी संप्रेषण ज़रूरी नहीं था, न कर्मकाण्डों के जरिये उन्हें ज़िन्दा रखना ज़रूरी। अब परंपरा की सभी संप्रेषणीय बातें लिखित रूप से दस्तावेजों और पुस्तकों के माध्यम

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से लोगों के पास पहुंचायी जा सकती थीं। अब पुस्तकें सामूहिक याददाश्त का माध्यम बन गयीं जो पहले लोककथाएँ या किंवदंतियाँ थीं।

चित्र 4

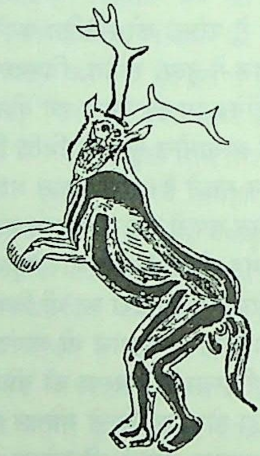

त्रोआ फ्रेर, फ्रांस में ऊपरी प्राचीन प्रस्तर युग की मुखौटे में नृत्य करते, संभवतः एक जादूगर की आकृति।

किसी नये आविष्कार का जन्म होने पर उसका प्रयोग सिर्फ़ उन्हीं, कम से कम आवश्यक कामों के लिए नहीं होता जिनके लिए आविष्कार होता है। इसके अस्तित्व में आने से अनेक नये तरह के कामों के लिए इसका प्रयोग होने लगता है। इस तरह समाज के विकास के साथ लिखावट के माध्यम से कई विधाएँ स्वयमेव अस्तित्व में आ गयीं। अब पुस्तकों एवं अखबारों का प्रकाशन सामाजिक जीवन का अभिन्न अंग बन गया। इनके माध्यम से समाज का तमाम ढाँचा भी बदलने लगा क्योंकि आवश्यकता के बजाय ये विविध मनोरंजन के साधन बन गये और आदमी की आकांक्षाओं को पंख लग गये।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : चार

संस्कृति के संदर्भ में मनुष्य की केन्द्रीयता

हमने आनुवंशिकी के समानांतर रख संस्कृति को समझने के लिए जैविकी के क्षेत्र की अनेक क्रियाओं की जानकारी का सहारा लिया है। अब आनुवंशिकी की एक और विशेषता का ध्यान दिलायेंगे जिससे यह समझने में आसानी होगी कि संस्कृति का साध्य क्या है। यह तो हम देख चुके हैं कि संस्कृति की भूमिका आदमी के जीवन को वैसे ही नियमित करने की है जैसे आनुवंशिकी इतर जीवों के जीवन को और एक निम्न स्तर पर मनुष्य के जीवन को भी नियंत्रित करती है। लेकिन हमें देखना यह है कि यह नियमन मनुष्य को ही लक्ष्य मान कर होता है या इसका लक्ष्य इससे आगे बढ़ किसी बड़ी इकाई का हित साधन है। यह सवाल इसलिए पैदा होता है क्योंकि मनुष्य की संस्कृति उस समूह की या उन समूहों की देन होती है जिसमें वह पलता होता है या प्रशिक्षित होता है। पिछले कुछ हजार वर्षों से मनुष्य विभिन्न स्तरों पर उसे आवृत करने वाले कई समूहों और परिवेशों में रहता आया है। उसकी अपनी रक्षा और संस्कृति के विकास के लिए इन समूहों और परिवेशों से लगाव एवं उनके प्रति वफादारी आवश्यक रही है। ऐसे समूह हैं—परिवार, कबीला, कार्यशाला, राज्य एवं राष्ट्र। इनमें प्रत्येक के अपने भौगोलिक परिसर रहे हैं जिनसे आदमी का भावनात्मक लगाव रहा है। अक्सर ऐसा देखा जाता है कि मनुष्य और उसको घेरे कई स्तर की इकाइयों में घनिष्ठ पारस्परिकता का रिश्ता रहा है और इनमें कामों का व्यवस्थित बंटवारा होता रहा है। कहीं इन इकाइयों की कार्यविधि एक केन्द्र से उसी तरह नियंत्रित होती है जैसे शरीर का कार्य मस्तिष्क से। इस तरह की बाहरी समानता को देख कुछ बौद्धिकों ने मनुष्य को आवृत करने वाली बड़ी इकाइयों जैसे राज्य या राष्ट्र को भी जीव की तरह प्राणवान और अपने आप में संपूर्ण एवं साध्य मानना शुरू कर दिया है। विशेषकर कबीलों और राष्ट्र-राज्य को तो इतना गरिमामंडित किया गया है कि इनके भीतर के मनुष्यों की जान पर भी इनका अनियंत्रित अधिकार मान लिया गया है। यह अपेक्षा भी रहती है कि इनका सदस्य आवश्यकता होने पर इन इकाइयों की रक्षा के लिए जान की भी बाजी लगा दे। ऐसे विचारों ने आदमी की हैसियत को तुच्छ बना दिया है। दूसरी तरफ उसके अहम् को एक और झटका लगा है। 'अमरत्व की तलाश' के संदर्भ में यह बात कही गयी थी कि आदमी अपने अमरत्व के लिए अपने जीन के अस्तित्व को निरंतरता प्रदान करने की कोशिश करता है। लेकिन अब यह माना जाने लगा है कि ऐसा सोचना मनुष्य के अहंकार की ही अभिव्यक्ति है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

जैविक हकीकत यह है कि जीन ही मानव जीवन या पशु जीवन का नियंता है और वह अपनी सुरक्षा के लिए ही मनुष्य या अन्य पशुओं को वैसे गुण प्रदान करता है जिनसे वे जीवित रह अपने जीन को अपने वंशजों को हस्तान्तरित कर सकें और जीन के लिए अक्षय जीवन सुनिश्चित कर सकें। अतः साध्य जीन है जीव या मनुष्य साधन है।

लेकिन संस्कृति के स्तर पर एक बार फिर व्यक्ति के रूप में मनुष्य की केन्द्रीयता स्थापित हो जाती है। चूँकि संस्कृति जिन व्यवहारों का निर्माण करती है उनका केन्द्रबिन्दु मनुष्य ही है, इसलिए जैसे जीव जगत का केन्द्रबिन्दु जीन है वैसे ही मानव समूहों का केन्द्रबिन्दु मनुष्य बन जाता है। प्राचीन यूनान के दार्शनिक प्रोटागोरस ने जब कहा कि 'मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदंड है' तो उसने मनुष्य की इसी अनुभूत केन्द्रीयता को उजागर किया था। ध्यान देने की बात है कि उसी प्राचीन यूनान में अपने विचारों के लिए सुकरात को मृत्युदंड दिया गया था। लेकिन इस मृत्युदंड से ज़्यादा महत्त्वपूर्ण वह विचार है जिसे सुकरात ने मृत्यु को अंगीकार करते हुए व्यक्त किया था। सुकरात के सामने दो विकल्प रखे गये थे—या तो नगर से निर्वासित होना कबूल करना या जहर पीकर मृत्यु को गले लगाना। सुकरात ने नागरिक के जीवन को जीवन से अधिक महत्त्व दिया और जहर खा कर प्राण दे दिये। यह उन प्राचीनतम घटनाओं की शृंखला में एक है जो व्यक्ति के जीवन से अधिक महत्त्व समुदाय को देता है। ऐसा विचार जितना ही उदात्त है उसकी तार्किक परिणति उतनी ही ख़तरनाक हो सकती है। सुकरात के शिष्य प्लेटो ने अपनी विख्यात पुस्तक 'रिपब्लिक' में जिस आदर्श समाज की कल्पना की उसमें व्यक्ति की स्वायत्तता की कोई जगह नहीं थी। यहाँ जीन और जीव के संबंध का एक दृष्टांत प्रासंगिक है क्योंकि नियामक सूचनातंत्र के रूप में समाज के लिए मानव व्यक्ति की भी वही भूमिका हो जाती है जो जीन की जीव के अस्तित्व और विकास के लिए। अब यह सिद्ध बात है कि प्रजाति के सदस्यों में जो सामूहिक स्तर पर महत्त्वपूर्ण बदलाव होते हैं उसकी शुरूआत जीन के 'म्यूटेशन' से होती है। यह म्यूटेशन अचानक होता है और परिस्थिति से अनुकूलन की प्रक्रिया से धीरे-धीरे यह गुण पूरी प्रजाति में फैल जाता है। समाज में सांस्कृतिक परंपरा का दबाव लोगों को लीक पर रखने के लिए ही होता है। इस लीक से हटने की प्रक्रिया व्यक्ति के स्तर पर ही शुरू होती है। कोई मसीहा, कोई वैज्ञानिक, कोई कलाकार या कोई कारीगर परंपरा से हट कर कुछ नया कहता है या करता है। परंपरा से उसकी टकराहट होती है। लेकिन अगर बदलाव बदली परिस्थिति में जीवन के लिए अनुकूल सिद्ध हुआ तो लोग उसे कबूल करते हैं और एक नयी सांस्कृतिक परंपरा की शुरूआत होती है। इस तरह समाज में मंगलकारी मौलिकता का उत्स भी व्यक्ति ही है। अतः संस्कृति के दीर्घकालीन जीवन के लिए व्यक्ति का जीवन और उसकी अभिव्यक्ति का स्वातंत्र्य अनिवार्य है। लेकिन आदमी हर क्षण अनिश्चितता की स्थिति में नहीं रह सकता। उसे हर समय छोटी-मोटी बातों पर निर्णय लेना होता है। परंपरा उसे अधिकांश बातों में बना-बनाया निर्णय प्रदान करती है। विकास के विशेष बिन्दुओं पर ही मौलिक निर्णयों की ज़रूरत होती है और विशिष्ट व्यक्तियों की भूमिका होती है। छोटे समूहों में, जिनमें समूह से बाहर जीवन संभव नहीं

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
और जीवन संघर्ष दुरूह है, समूह के सामने हर मुद्दे पर आत्मसमर्पण करने का जीवन की रक्षा के संस्कृति के मूल उद्देश्य से मेल बैठ सकता है। लेकिन बड़े और विशाल समुदायों के विकास के साथ व्यक्ति के आत्मसमर्पण से संस्कृति के केन्द्रीय तत्त्व मनुष्य जाति के विनाश की संभावना भी पैदा हो जाती है। दरअसल गहराई से विचार करने पर लगेगा कि संस्कृति के लिए व्यक्ति और समष्टि का विरोध असल नहीं। जैसे जीनों की रक्षा, जो जीवन की नियंत्रक सूचनाओं के वाहक हैं, जीव की रक्षा के लिए भी आवश्यक है वैसे ही मनुष्य और समाज दोनों एक-दूसरे के जीवन के लिए आवश्यक हैं। जीव की केन्द्रीयता मानें या व्यक्ति की मनुष्य के ऊपर कोई दूसरी ऐसी सत्ता नहीं जिसके लिए जीते-जागते व्यक्ति की बलि देने का तर्क बने जैसा समाज की विभिन्न इकाइयों के पक्ष में इतिहास में देखा गया है।

व्यक्ति का महत्त्व संस्कृति के लिए कितना है, इसे समझने के लिए सांस्कृतिक बदलाव की प्रक्रिया पर विचार करना ज़रूरी है। अध्ययन के प्रारंभ में ही संस्कृति के संस्कार से अनिवार्य संबंध की बात कही गयी थी। इसके मुताबिक संस्कार व्यक्ति में संस्कृति का प्रतिबिम्ब होता है। लेकिन संस्कृति एक अखण्ड इकाई नहीं होती। इसके अलग-अलग अवयव होते हैं जिनका समन्वित रूप पूरी संस्कृति होती है। मनुष्य के संस्कार में भी उसकी स्थिति और रुझान के अनुसार ये विभिन्न अवयव कुछ विशिष्टता के साथ प्रतिबिम्बित होते हैं। व्यक्तियों को संस्कारित करने के लिए संस्कृति एक सांचे का काम करती है। इसमें संस्कृति के विभिन्न अवयवों के अलग-अलग सांचे होते हैं। संस्कृतियों का परिवर्तन भी हठात् एक समग्रता में नहीं होता बल्कि इनके अलग-अलग अवयवों पर ही होता है। ये परिवर्तित अवयव धीरे-धीरे पूरी संस्कृति पर भी बदलाव का दबाव बनाते रहते हैं और परिस्थिति के अनुसार उन्हें पूरी तरह बदल भी सकते हैं। लेकिन इन सांचों में परिवर्तन के पीछे एक गहरा अंतर्द्वन्द्व होता है। संस्कारों में अपने को संरक्षित रखने का एक अन्तर्निहित दबाव होता है। इनका विरोध पारिस्थितिकीय दबाव से होनेवाले परिवर्तनों से होता है। अनुकूलन प्रक्रिया के दबाव में ही परिवर्तनों को संस्कृतियाँ अंगीकार करती हैं।

समुदाय में संस्कृति द्वारा संस्कारित व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों का ताना-बाना परंपरा का निर्माण करता है। ये परंपराएँ एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में हस्तांरित होती चलती हैं जिनके माध्यम से संस्कृति के तत्त्व पीढ़ी-दर-पीढ़ी समुदाय में जीवित रहते हैं। एक ठेठ अर्थ में इसे परिपाटी भी कह सकते हैं। ये तत्त्व एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं लेकिन सब की अपनी स्वायत्तता भी होती है और बाहरी प्रभावों एवं दूसरे तत्त्वों से स्वतंत्र रूप से इनमें परिवर्तन भी होते हैं। ऐसे परिवर्तन अगर संस्कृति के समन्वित संस्कार के विपरीत नहीं हों तो परंपरा के भीतर अंगीकार हो जाते हैं। लेकिन अगर ये बाकी तत्त्वों के संस्कार से बिल्कुल विपरीत हों तो या तो दूसरे तत्त्व भी प्रभावित हो अपने को बदलेंगे या इन्हें परंपरा से बाहर कर दिया जायेगा। अगर बदलाव के पीछे कोई शक्तिशाली और विजातीय प्रभाव हो तो पूरी संस्कृति नष्ट भी हो सकती है क्योंकि इसका अपने परिवेश से मेल नहीं बैठ पायेगा।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कारित करने वाले सांचे आनुवंशिकी के जीन के कोड की तरह ही काम करते हैं और पीढ़ी-दर-पीढ़ी संस्कृति के स्वभाव को निर्धारित करते हैं।

संस्कार के इन तत्त्वों में (1) यौन संबंध और कौटुम्बिक तानाबाना (किनशिप), (2) शिष्टाचार, (3) धार्मिक विश्वास और कर्मकाण्ड, (4) आवासीय व्यवस्था और सामुदायिक संरचना, (5) भाषा एवं संप्रेषण, (6) आजीविका के साधन एवं प्रौद्योगिकी, (7) प्रशिक्षण की व्यवस्था, (8) नृत्य, संगीत एवं कला, (9) क्रीड़ा एवं खेल तथा (10) राजकीय व्यवस्था शामिल हैं।

ये तत्त्व अलग-अलग और सम्मिलित रूप से भीतरी दबावों और बाहरी प्रभाव से बदलते रहते हैं। लेकिन आमतौर से इनका बदलाव इतना धीमा होता है कि इनका असली प्रभाव आने वाली पीढ़ियों को एक विशिष्ट सांस्कृतिक ढांचे में बांधे रखने का होता है। तकनीकी के आमूलचूल परिवर्तन का सब से व्यापक प्रभाव बाकी तत्त्वों और इनसे पूरी संस्कृति को बदलने में होता है। दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व जिससे संस्कृतियाँ बदलती हैं विश्वासों—जैसे धर्म के परिवर्तन—का हो सकता है जो संस्कृति के बाकी तत्त्वों को बदलने के प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं जैसा इस्लाम या प्रोटेस्टेन्ट धर्म के प्रभाव से हुआ।

संस्कृति द्वारा व्यक्ति को संस्कारित करने वाले सांचे को हम 'संस्कारिकी' का नाम दे सकते हैं और फिर विविध अवयवों पर काम करने वाले सांचे को इसी तर्ज पर (1) कौटुम्बिकी, (2) शिष्टाचारिकी, (3) धार्मिकी, (4) आवासिकी, (5) संप्रेषिकी, (6) शैक्षिकी, (7) प्रौद्योगिकी, (8) संगीतिकी, (9) क्रीड़की और (10) राजकी जैसे नाम दे अलग-अलग हिस्सों में बाँट सकते हैं। इस तरह के विभाजन से यह देखना और समझना आसान होगा कि संस्कृति के किन अवयवों पर किस तरह का प्रभाव पड़ रहा है और कैसे परिवर्तन हो रहे हैं। व्यक्तियों के संस्कार के स्तर पर यह एक अध्ययन का विषय बन सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

परिवेश का बंधन और दिशा बोध

जैसा कि पहले बतलाया गया है संस्कृति आदमी को आनुवंशिकी से प्राप्त सहज प्रवृत्ति की सीमाओं से परे जा उसकी आवश्यकताओं के अनुसार उसके आचरण को नियमित करती है। लेकिन यह नियमन बिलकुल स्वायत्त नहीं होता। सहज प्रवृत्ति सुप्त रूप से सदा विद्यमान रहती है और विशेष परिस्थितियों में मनुष्य के व्यवहारों पर हावी हो जाती है। इसके अलावा आनुवंशिकी से प्राप्त व्यवहारों में भी सदा मेल नहीं बैठता। इससे आदमी को वैसी अनेक परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ मिली होती हैं जो अतीत की विविध चुनौतियों के अनुरूप विकसित हुई थीं पर जिनके बीच संगति नहीं बैठ पायी। नतीजा यह है कि जहाँ एक तरफ़ आदमी में आक्रामकता की प्रवृत्ति है वहीं दूसरी तरफ़ दूसरों के लिए आत्मोत्सर्ग करने की प्रवृत्ति भी है; जहाँ सहयोग की प्रवृत्ति है वहीं प्रतिस्पर्धा की भी है। जीवन के विकास के क्रम में अलग-अलग आवश्यकताओं के अनुरूप ये सब परस्पर विरोधी प्रवृत्तियाँ आदमी के चरित्र का हिस्सा बन गयीं। अन्य बातों के अलावा संस्कृति की एक भूमिका रही है मानव जीवन की आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग परिस्थितियों में इन प्रवृत्तियों को वैसी दिशा देने की कोशिश, जो मानव प्रजाति के लिए कल्याणकारी हो। अगर संस्कृति का विकास किसी एक कल्याणकारी सर्वोच्च सत्ता के आदेशों के अनुसार होता तो यह संभावना होती कि आदमी की विरोधी प्रवृत्तियों के बीच आवश्यकता के अनुसार कोई संगति बैठा दी जाती। लेकिन हकीकत यह है कि संस्कृतियों का विकास एक-दूसरे से अलग-थलग अनगिनत केन्द्रों में होता रहा है और परिस्थितियों की भिन्नता के कारण यह विकास अलग-अलग तरह की चुनौतियों का सामना करने की मजबूरी में भिन्न-भिन्न और कभी-कभी परस्पर विरोधी मूल्यों को लेकर हुआ। जीव विकास की प्रक्रिया की तर्ज पर ही यह सब परिस्थिति से अनुकूलन की आवश्यकता से हुआ। इसी हिसाब से संस्कृतियों की उप-संस्कृतियाँ पैदा हुई हैं। जिस तरह एक-दूसरे से अलग हो जाने और उनके आपसी संपर्क टूट जाने से प्रजातियों की विविध शाखाओं की न पाटी जा सकने वाली भिन्नताएँ नयी प्रजातियों को अस्तित्व में लाती रही हैं वैसे ही मानव संस्कृतियाँ भी जब फैलती हैं और इनकी शाखाएँ एक-दूसरे से अलग हो अलग परिवेश में विकसित होती हैं तो उनकी समानता भी लुप्तप्राय हो जाती है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग भाषा भी है। इस क्षेत्र में तो काफ़ी अध्ययन हुआ है और कुछ भाषाओं के बारे में, जो अब एक-दूसरे से बिल्कुल अलग हैं, अब यह लगभग मान्य सिद्धान्त बन गया है कि वे कभी की एक ही आदि भाषा से विकसित होकर अपने वर्तमान रूप में आयी हैं—जैसे भारत, ईरान और यूरोप की कई भाषाएँ, जिन्हें एक आदि इन्डो-यूरोपियन भाषा से जनमा माना जाता है। अगर यह विचार अमान्य हो तो भी भारत की विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं का एक या दो आदि भाषा से प्रादुर्भाव तो विवाद से परे है। संस्कृति के दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्त्व धर्म के क्षेत्र में भी यहूदी, ईसाई एवं इस्लाम धर्म की अनेक शाखाओं-उपशाखाओं का उत्स भी एक ही यहूदी धर्म में देखा जाता है। लेकिन अपने भौगोलिक फैलाव और ऐतिहासिक एवं पारिस्थितिकीय भिन्नता के कारण इनके रूप न सिर्फ़ बिल्कुल भिन्न बन गये हैं बल्कि इनमें ऐसी परस्पर विरोधी मान्यताएँ पैदा हुई हैं कि अनेक क्षेत्रों में ये धार्मिक सम्प्रदाय एक-दूसरे के कट्टर दुश्मन बन गये हैं। यहाँ तक कि इतिहास में कई बार इनकी विभिन्न शाखाओं और उपशाखाओं के बीच 'धर्मयुद्ध' भी हुए हैं। कभी यहूदियों का ईसाइयों के खिलाफ़ तो कभी ईसाइयों का मुसलमानों के खिलाफ़ क्रुसेड नाम का 'धर्मयुद्ध' (जो ईसाइयों द्वारा मुसलमानों के खिलाफ़ छेड़ा गया था) तो सदियों तक चलता रहा। ईसाइयों में तो विभिन्न (हेरेटिक) सम्प्रदायों के खिलाफ़ प्रारम्भ से ही अनेक संघर्ष चलते रहे हैं जिनमें सबसे बड़ा संघर्ष सोलहवीं शताब्दी से रोमन कैथोलिकों और प्रोटेस्टेंटों के बीच चला। इसमें कितने युद्ध हुए और कितनी हत्याएँ हुईं इसका अंदाज करना मुश्किल है। मुसलमानों में भी शिया एवं सुन्नी सम्प्रदायों के बीच ख़ूनी संघर्षों का होना एक आम बात बन गयी है। हालाँकि आज सूचना तंत्र के विकास से दुनिया का कोई भी भाग पूरी तरह एक-दूसरे से वैसा कटा नहीं है जैसा प्राचीनकाल में, फिर भी इन सभी धर्मों में नये सम्प्रदाय (सेक्ट) रोज़ पैदा हो रहे हैं और अपने विशेष संदेश को बाकी दुनिया में फैलाने में लगे हैं।

भारत में बौद्ध धर्म भी दो प्रमुख शाखाओं—हीनयान और महायान में विभक्त हो गया। लेकिन भारत के भीतर इनका वैसा वैविध्यकरण नहीं हुआ जैसा ऊपर बतलाये गये धर्मों का। शायद इसलिए कि भारतीय परिवेश में इनके प्रादुर्भाव के काल तक काफ़ी सामान्यीकरण हो चुका था। लेकिन भारत से बाहर जा कर तिब्बत, चीन, जापान, थाईलैंड आदि में इसका रूप काफ़ी भिन्न हो गया।

भाषा और धर्म संस्कृति के मूलाधार हैं। धर्म उन मूल्यों का निर्धारण करता है जिनके इर्द-गिर्द कोई मानव समूह संचालित होता है और भाषा परंपराओं की वाहक—मूल संचार माध्यम है। इससे इनके विकास से पैदा भिन्नताओं के उदाहरण पूरी संस्कृतियों की अचरजभरी भिन्नताओं की समझ को सहज बनाते हैं। यह समझ कि ये संस्कृतियाँ अपने उत्स में एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए पैदा हुईं, हमें दुनिया की विभिन्न संस्कृतियों की अचरजभरी भिन्नताओं के बीच समान मानवीय मूल्यों और चिंताओं का एहसास कराती है। इन सब में जो सब से त्रासद बात दिखाई देती रही है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

वह यह कि स्वयं धर्म, जिसकी मूल भूमिका आदमी की उच्छृंखल एवं आक्रामक भावनाओं को नियंत्रित कर उसके विघटनकारी आयामों को ख़तम करना है, के विभाजन से उपजे इन विवादों के चलते मानव समूहों को ऐसी दिशा में ढकेलते रहे हैं जहाँ जीवित हाड़-माँस के असली आदमी की केन्द्रीयता, जिसकी चर्चा पहले की गयी है, भुला दी जाती है और उसकी स्वतंत्रता और उसके जीवन दोनों को जोख़िम में डाल दिया जाता है। यह त्रासदी संस्कृति के अन्य आयामों के साथ भी जुड़ सकती है।

पिछले अध्यायों में हमने उन सूचना तंत्रों, विशेषकर भाषा, की चर्चा की है जो संप्रेषण के द्वारा संस्कृति को ग्राह्य बनाते हैं और क्षेत्र एवं काल में विस्तार देते हैं। अब हम उन मूलभूत आवश्यकताओं पर नजर डालें जो संस्कृति द्वारा पूरी की जाती हैं। इनमें महत्त्वपूर्ण होती हैं भोजन की उपलब्धि, हिंस्र पशुओं तथा अन्य आक्रामक मानव समूहों से रक्षा, नर-नारी का चयन और संतान वृद्धि। लेकिन मानव समाज में इससे आगे बढ़ दूसरी आवश्यकताएँ भी होती हैं जिनकी पूर्ति संस्कृति करती है—जैसे जन्म और मृत्यु से जुड़े कर्मकाण्डों का निर्माण और नियमन, धर्म, कला, संगीत, नृत्य, नाटक एवं साहित्य का विकास। लेकिन इन सब से अलग और महत्त्वपूर्ण होता है स्थानबोध को सुनिश्चित करना, जिसके संदर्भ में ही बाकी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

सभी जीवों—प्रोटोजोआ एवं रेंगने वाले जीवों से लेकर पशु-पक्षियों तक में अपने परिवेश की गहन जानकारी की तलाश होती है। इसमें वे सुरक्षा का अनुभव करते हैं और इसी केन्द्र से जीवन की अन्य संभावनाओं का आकलन करते हैं। इसके प्रति वे इतने संवेदनशील होते हैं कि परिचित परिवेश में थोड़ी भी भिन्नता होने पर उनमें स्थिति के आकलन की बेचैनी पैदा हो जाती है। परिवेश में परिवर्तन से ही उन्हें ख़तरे की आशंका होती है या आहार की आशा दिखाई पड़ती है। सबसे परिचित उदाहरण मकड़ी का है जो अपने जाल से स्वयं एक विशिष्ट परिवेश का निर्माण करती है। इसमें होने वाले अतिक्रमण के आकार और रूप से उसे पता चल जाता है कि अतिक्रमणकर्ता कोई ख़तरनाक जीव है, आहार लायक जीव है या परिणय का अभिलाषी अपनी ही प्रजाति का कोई दूसरा सदस्य। जीवों में भौगोलिक परिवेश के प्रति लगाव (टेरिटोरियल सेंस) का सबसे स्पष्ट उदाहरण पक्षियों में देखने को मिलता है, विशेषकर उन पक्षियों में जो जोड़ी में रहते हैं एवं घोंसला बना उसमें बच्चों का भरण-पोषण करते हैं। दरअसल इस गुण के अध्ययन की शुरूआत भी पक्षियों से ही हुई और बाद के अध्ययनों से यह लगाव कमोबेश सभी जीवों में पाया गया। मनुष्यों में भी यह गुण है और परिवेश को समझने की यह आकांक्षा आगे चल कर विज्ञान को जन्म देती है। लेकिन विज्ञान का जन्म मनुष्यों में अचानक शून्य से नहीं आता। यह जीव जगत् के विकासक्रम की निरंतर प्रक्रिया का अंग है जो सबसे निम्न स्तर के जीवों की अपने परिवेश को समझने की क्षमता का एक परिष्कृत रूप है।

दरअसल संस्कृति के सबसे गौरवपूर्ण और समादृत आयाम भी जीवन की आदिम आवश्यकताओं और क्षमताओं के ही विकसित और परिष्कृत रूप होते हैं। विज्ञान भी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आदिम जीवों को टटोल कर अपने गंतव्य तक पहुँचने के प्रयासों का ही मानव स्तर पर रूपान्तरण है। जीव अपनी प्रारंभिक अवस्था में, जब वह प्रोटोजोआ (आदिम एक-कोष्ठीय जीव) या कीटाणु के रूप में रहता है, उस समय भी जीवित रहने के लिए उसे अपने परिवेश को जानने की ज़रूरत होती है, भले ही उसका यह परिवेश अत्यंत ही छोटा हो। जिस रासायनिक द्रव्य में वह तैरता है उसे अपने शरीर के फैलते-सिकुड़ते अनिश्चित आकार वाले लसीले सूंढ़ों (स्युडोपोडिया) के स्पर्श से आँकता है। इसीसे उसे यह ज्ञान होता है कि वह द्रव्य या उसका वह विशेष भाग जिसका वह स्पर्श कर रहा है ग्राह्य पोषक तत्त्व है या नुकसान करने वाला जहरीला तत्त्व। इसी आदिम अनुभव के आधार पर वह उस तत्त्व को ग्रहण करने के लिए अपने शरीर से उसे आवृत करता है या उससे दूर होने का प्रयास करता है। उसके संसार का दायरा उसके शरीर को आवृत करने वाला वह स्पर्श संसार ही है। लेकिन स्पर्श के संकीर्ण संसार में रहने वाले इन जीवों के प्रति जल्दबाजी में हिकारत का भाव मन में मत लाइये। आप के अहम् को यह जानकर भारी धक्का लगेगा कि हम मानवों के संसार का वास्तविक दायरा भी यह स्पर्शों का संसार ही है। ज़रा-सा ग़ौर करते ही यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि हम, 'सृष्टि के सिरमौर' मानव भी अपने ज्ञान के लिए अपने एक-कोष्ठीय अतीत से बँधे हैं और सारे जीव संसार की बिरादरी के ही एक सदस्य हैं।

अब ज़रा विचार कीजिये : हमें मुग्ध करने वाला विविध रंगों के फूल-पत्तियों का संसार, इन पर थिरकती रंग-बिरंगी तितलियाँ, उषा की मोहक लाली, सूरज का चकाचौंध करने वाला प्रकाश, रात्रि की स्निग्ध चाँदनी और विविध रूप-रंगों के परिचित-अपरिचित चेहरों का संसार क्या इन सबों से भी हम स्पर्श द्वारा ही परिचित नहीं होते? आप कहेंगे कि निसर्ग ने हमें इन्हें देखने-परखने के लिए दृष्टि दी है। रुकिये और सोचिये! हमारा दृष्टिबोध कहाँ से आता है? आधुनिक समय का एक स्कूली बच्चा भी जानता है कि हम किसी भी वस्तु को इसलिए देखते हैं क्योंकि उस वस्तु से प्रकाश, चाहे वह उसका अपना हो चाहे किसी दूसरे स्रोत से प्रतिबिम्बित होकर आया हो, हमारी आँखों की पुतलियों को स्पर्श करता है और इसीसे प्राप्त संवेदन से हम उसके दृष्टिगत होने का अनुभव करते हैं। इस तरह दृष्टिबोध भी स्पर्शबोध ही है। आप कहेंगे माना, पर हमारा बोध देखने भर से तो नहीं आता। हम संसार को कथा-कहानियों, काव्यों और संगीत से भी तो जानते हैं—सूरदास का सारा काव्यलोक नेत्रहीनता की स्थिति में अस्तित्व में आया। लेकिन यहाँ भी स्पर्श हमें अपने पाश से मुक्त नहीं करता। आख़िर हम आवाज की दुनिया में प्रवेश कैसे पाते हैं? यहाँ भी जब हमारे कान के पर्दों पर हवा में उत्पन्न आवाज की तरंगें आकर टकराती हैं तब हमें आवाज का ज्ञान होता है। इस तरह हमारे शब्द-ज्ञान का स्रोत भी स्पर्श ही है। यही बात हमें मोहने वाली विविध सुगन्धों और जुगुप्सा पैदा करने वाली दुर्गंधों के साथ भी है क्योंकि हम गंधों से परिचित इसलिए होते हैं क्योंकि फूलों के पराग या अन्य रसायनों के अणु हमारी नासिका में प्रवेश कर उसकी विशेष कोशिकाओं को स्पर्श कर स्पंदित करते हैं। स्वाद का जिह्वा के स्पर्श

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
का परिणाम होना तो सर्वविदित है और वैसा ही सर्वविदित है ठंडे-गरम, कोमल और कठोर की अनुभूति का शरीर से स्पर्श का परिणाम होना। दरअसल स्पर्शों की विविधता के आधार पर हमारा मस्तिष्क रूप, रंग, शब्द और गंध सबों का संसार निर्मित करता है। लेकिन मानव संस्कृति निजी अनुभूतियों से परे जा संप्रेषण के माध्यम से एक सार्वजनीन अनुभूति का निर्माण करती है जिससे असामान्य अनुभूतियों का निष्कासन भी होता है और विशिष्ट सामूहिक अनुभव के आधार पर उनका मूल्यांकन भी होता है। उदाहरण के लिए सभी समाजों में कोई गंध या स्वाद समान रूप से ग्राह्य या त्याज्य नहीं माने जाते।

तात्कालिक बोध का माध्यम तो स्पर्श ही है लेकिन जीवन जीव के शरीर से सटे परिवेश से होने वाले आदान-प्रदान पर ही निर्भर नहीं करता। यह परिवेश तो अत्यंत ही छोटा हिस्सा है उस वृहत् परिवेश का जो अपनी निरंतरता में असंख्य परतों में एक के बाद एक इस परिवेश को घेरे हुए है और जिसके साथ यह एक अंतहीन आदान-प्रदान में लगा हुआ है। शरीर का स्पर्श करता ठोस पदार्थ या जल है और इसके बाहर वायुमंडल और इसके चारों ओर फैला अंतहीन आकाश जिसमें नक्षत्र और तारे हैं जिन सबके साथ इसका ऊर्जा एवं पदार्थों का आदान-प्रदान होता रहता है। इन सभी से आये संघात शरीर पर संवेदन के रूप में होते हैं जो अपने साथ विविध भाँति की सूचनाएँ लाते हैं। इन सूचनाओं के आधार पर आदमी शरीर से तात्कालिक स्पर्श वाले संसार के दायरे से परे जा दूरदराज के उन सूचना स्रोतों का ज्ञान अर्जित करता है जो उसके जीवन के लिए प्रासंगिक होते हैं। विशिष्टता और जटिलता के हिसाब से ही वह अनगिनत संवेदनों में उन संवेदनों का चयन करता है और उन्हें समन्वित करता है जो उसके जीवन के लिए प्रासंगिक होते हैं। इसमें जीव निःस्पंद रह बाहर से निस्सरित संवेदनों को ही ग्रहण नहीं करता बल्कि स्वयं भी शरीर से ऐसी ऊर्जा का प्रक्षेप करता है जो बाहर की वस्तुओं से परावर्तित हो वापस आती हैं और उसकी विशेष तरह की इन्द्रियों का स्पर्श कर उसे उन वस्तुओं की स्थिति एवं उपस्थिति का ज्ञान देती हैं। प्रकृति ऐसे विलक्षण गुणों से भरी है। जुगनुओं द्वारा प्रकाश किया जाना ऐसी ही प्रक्रिया है। ऐसी ही प्रक्रिया है चमगादड़ों द्वारा तेज कंपन वाली ध्वनितरंगों को पैदा करना जिनका ज्ञान हमें तो नहीं हो पाता पर जो प्रतिबिंबित हो वापस आ चमगादड़ को घुप अंधेरे में उसके आसपास की वस्तुओं, शिकार के लायक पतिंगों तथा स्वयं अपने रहने के स्थान की ठीक सूचना देते हैं। इन्हीं सूचनाओं के आधार पर वह दूरदराज तक शिकार करता है और फिर वापस आ अपने स्थान की कन्दरा या वृक्ष की डाली में लटक जाता है। सबसे विस्मयकारी तो मधुमक्खियों का दूरदराज (कई किलोमीटर) तक स्थित फूलों की बिलकुल ठीक-ठीक सूचना पाना और एक विशेष तरह के नृत्य के द्वारा अपने छत्ते की दूसरी मधुमक्खियों को उसे देना है जो सूरज की स्थिति के ज्ञान से उसी तरह संभव है जैसा महासागर में नाविकों के लिए होता है। (चित्र 5) इससे भी अचरज में डालने वाली बात यह है कि मधुमक्खियाँ आसमान के बादल से घिरे होने पर भी ठीक-ठीक उस स्थान का पता अपने

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साथियों को दे सकती हैं अगर आसमान का कोई टुकड़ा दिखाई देता हो। यह उनकी ध्रुवीकृत प्रकाश (पोलराइज्ड लाइट) प्रकाश के आधार पर सूरज के स्थान का ठीक-ठीक पता लगा सकने की क्षमता पर निर्भर करता है। इतना ही नहीं वे कुछ फूलों के पराबैंगनी रंगों को भी देख सकती हैं जो हम अपनी मानवीय आँखों से नहीं, देख सकते। इसी तरह सांप अंधेरे में इन्फ्रा रेड (लाल-से बड़ी तरंगों वाला प्रकाश) के सहारे अपने शिकार चूहे जैसे जीवों के शरीर से निकलने वाले ताप के आधार पर उन्हें पकड़ते हैं। आदमी न तो पराबैंगनी रंग और न लाल-से बड़ी तरंगों के प्रकाश से कुछ देख सकता है। ऐसे अनगिनत उदाहरण बतलाते हैं कि जीवों को उनकी परिस्थिति एवं आवश्यकता के अनुसार अपने परिवेश को समझने और उनसे आवश्यक पोषण और सुरक्षा पाने के लिए विभिन्न तरह के अंग और स्नायविक बनावट मिली है। स्पर्शों की सूचनाओं के आधार पर ये अंग और इनसे संबद्ध उनका विशेष तरह का मस्तिष्क उन्हें सूचनाओं के अर्थ के रूप में उनके परिवेश और उसमें उपस्थित वस्तुओं की निश्चित जानकारी एवं उनके बीच उनकी अपनी स्थिति का ज्ञान देते हैं। पर अधिकांश जीवों में ऐसे गुणों की विलक्षणता ही उन पर कुछ सीमाएँ भी लगा जाती हैं। परिवेश बदल जाने पर उनकी क्षमताएँ बिल्कुल निष्प्रयोजन हो जाती हैं। दिन के प्रकाश में चमगादड़ शिकार या सुरक्षा के लिए अक्षम हो जाता है। मधुमक्खियाँ बादल वाले दिन या रात में निष्क्रिय हो जाती हैं। इस तरह की अक्षमताएँ अधिकांश वैसे जीवों में होती हैं जिन्होंने अपने विकास के क्रम में अपनी आवश्यकता के हिसाब से अत्यधिक क्षमता हासिल कर ली। जो भी हो, इन सबमें जो ख़ास बात है वह यह कि स्पर्श से ये जीव अपने शरीर से सटे हुए भाग का ही नहीं बल्कि एक विस्तृत भू-भाग का ज्ञान हासिल करते हैं जो उनके जीवन के लिए ज़रूरी है। जो जीव अपनी बनावट में जितना ही जटिल होगा उसकी निर्भरता भी उतनी ही वैविध्यपूर्ण और दूरदराज तक फैले परिवेश पर होगी। मधुमक्खियों तथा अधिकांश दूसरे जीवों में विकास के क्रम में लाखों वर्ष में अनुकूलन की प्रक्रिया से इस तरह के चमत्कारी लगने वाले गुणों का विकास हुआ। लेकिन मनुष्य के आदिम पूर्वजों का परिवेश इतना तेजी से बदलता रहा और पहले चर्चित कारणों से उनमें आवश्यक शारीरिक परिवर्तन की संभावना विकास के इस छोटे कालखण्ड में इतनी कम थी कि इन्हें प्रशिक्षित हो वैसे चारित्रिक गुण, कार्य-कुशलता एवं तकनीक को विकसित करना पड़ा जो सहज प्रवृत्ति के बजाय आवश्यक प्रशिक्षण को परंपराओं में जीवित रखने और इसे अपनी प्रजाति के सदस्यों में फैलाने की क्षमता प्रदान कर सके। इस तरह मनुष्य ने अपने सांस्कृतिक विकास के क्रम में संसार को समझने के लिए वैसे यंत्र तैयार किये जो उसके शरीर में प्राकृतिक रूप से विकसित नहीं हुए थे। वह टार्च से जुगनुओं की तरह प्रकाश फैला सकता है, पराबैंगनी प्रकाश से बहुत-सी वैसी वस्तुओं की छायाएँ प्राप्त कर सकता है जो साधारण प्रकाश से संभव नहीं, अल्ट्रासाउंड (तेज ध्वनितरंगों) से बिना प्रकाश वस्तुओं का चित्र प्राप्त कर सकता है। इन्फ्रा रेड प्रकाश से अंधकार में वस्तुओं का उनके ताप के आधार पर चित्र प्राप्त कर सकता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चित्र 5

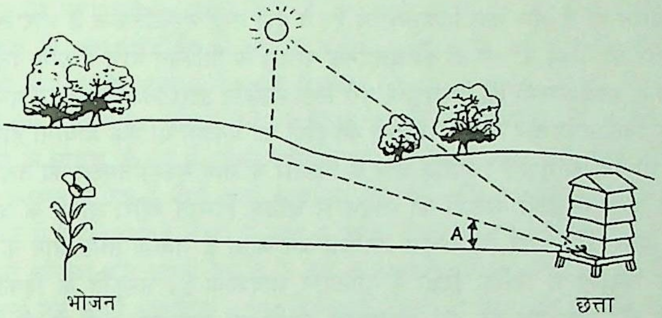

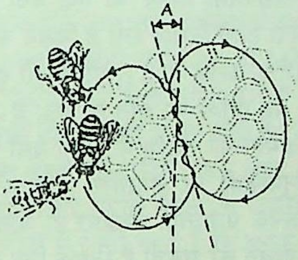

नीचे मधुमक्खी का 'वैंग्ल नृत्य' जिसके द्वारा वह उपलब्ध भोजन की दिशा और दूरी का संप्रेषण छत्ते की दूसरी मधुमक्खियों को करती है। निचले चित्र में दर्शायी गयी सूचना के आधार पर मधुमक्खियों को ऊपर दिये गये चित्र जैसा परिवेश का ज्ञान होता है। मधुमक्खियों के संप्रेषण की ये विलक्षण क्षमताएँ वौन क्रिश्च एवं गूल्ड के क्रमशः 1967 एवं 1976 के ऐतिहासिक प्रयोगों से ज्ञात हुई।

आदमी का सारा ज्ञान भी परोक्ष ही हो गया है और धीरे-धीरे ऐन्द्रिक स्पर्श, जिसकी चर्चा हो चुकी है, से आगे बढ़ यांत्रिक स्पर्श पर आधारित है। आधुनिक विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। विज्ञान जितना ही विकसित और जटिल होता गया है उतना ही वह अपनी प्रयोगशाला के यंत्रों से बंधता गया है। अब आकाश में फैले निखिल ब्रह्माण्ड और पदार्थों की सूक्ष्मातिसूक्ष्म हकीकत का ज्ञान हम अपनी इन्द्रियों से अनुभूत तथ्यों के आधार पर नहीं करते; नहीं कर सकते। इसके लिए हमें प्रयोगशाला में बंद हो विभिन्न तरह की सूचिकाओं के संकेतों को रेकार्ड करना होता है और जटिल गणित के जरिये उनका निहितार्थ निकाल फिर अपनी कल्पना के आधार पर उनके संबंध में कोई अवधारणा बनानी पड़ती है। अब स्पर्श भी नहीं सूचिकाओं के संदेश ही मनुष्य के नये वैज्ञानिक संसार पर द्वार खोल दीदार की खुशफहमी पैदा करते हैं। लेकिन इस तरह का विकास संस्कृति पर मनुष्य की निर्भरता को संपूर्ण बना देता है। उसकी ज्ञानेन्द्रियाँ निजी होती हैं भले ही इनसे प्राप्त ज्ञान का स्वरूप उत्तरोत्तर सामाजिक होता गया हो। इससे पिछली शताब्दी तक जब अवलोकन मूलतः ज्ञानेन्द्रियों पर आधारित था, एक स्वायत्त विश्वदृष्टि की संभावना व्यक्ति के लिए बनी हुई थी।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लेकिन प्रयोगशालाएँ और वेधशालाएँ एक वैज्ञानिक परंपरा के तहत अनगिनत पीढ़ियों में विकसित हुई हैं और सदा विकासशील हैं। ये पूरी तरह संस्कृतिजन्य हैं और आदमी की संसार को देखने की क्षमता को वैज्ञानिक परंपरा के निश्चित सांचे में ढाल देती हैं। विकास के साथ आदमी की विश्वदृष्टि पूरी तरह संस्कृति द्वारा निर्धारित होती गयी है। वर्तमान विकास के दौर में इससे आदमी की दृष्टि का एकांगी या एक आयामी होने का ख़तरा भी पैदा हो गया है। क्योंकि ज्ञान के विस्तार के साथ सूक्ष्मातिसूक्ष्म की तलाश में आदमी छोटी से छोटी वस्तुओं का अधिक से अधिक विस्तृत ब्यौरा जानने के क्रम में इसके बाहर की दुनिया से बिल्कुल अनभिज्ञ बन जाता है जबकि समग्र ज्ञान के लिए विविध बिन्दुओं से विविध दिशा में दृष्टिपात आवश्यक है। संस्कृति के विकास में विज्ञान और तकनीकी की अति विशेषज्ञता मनुष्य को एक अंधी गली में भी ले जा सकती है और आज वैसी स्थिति पैदा होती दिखाई देती है जिसमें उसकी बढ़ती रफ़्तार मनुष्य को विकास की जगह विनाश के करीब ला दे। क्योंकि पूरी दुनिया और इतिहास की कोई समग्र दृष्टि नहीं होने से वह गंतव्य का ज्ञान खो बैठा है। ऐसा लगता है कि अपने ज्ञान के घमंड में अत्यधिक क्षमता की तलाश में मनुष्य वैसी स्थिति में अपने को डाल रहा है जैसी स्थिति में आनुवंशिकी पर आधारित क्षमताओं के कारण बदली स्थितियों का मुकाबला करने में अनेक प्रजातियाँ बेसहारा हो जाती हैं। इस तरह की स्थिति उस लाभ से ही मनुष्य को वंचित कर सकती है जिसके लिए संस्कृति का विकास हुआ था।

आदमी में विज्ञान की शुरूआत सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों आदि के अध्ययन से हुई जिनके परिप्रेक्ष्य में मनुष्य अपने रहने के स्थान और समय को सुनिश्चित करता था। धीरे-धीरे वह इनके अध्ययन को ऋतुओं, नदियों के उतार-चढ़ाव और अपने आस-पास की जमीन की बनावट से जोड़ने लगा। इसीलिए दुनिया की सबसे प्राचीन संस्कृतियों मिस्र, मेसोपोटामिया एवं भारत आदि में ज्योतिष और इससे जुड़े गणित का जन्म अन्य विज्ञानों से पहले हुआ। स्वाभाविक था कि ऐसे ज्ञान को आजीविका के लिए सबसे आवश्यक क्रियाकलाप से जोड़ा जाय जो इन स्थानों पर कृषि थी। इससे, विशेषकर मिस्र में क्षेत्रमतीय ज्ञान का आविर्भाव हुआ। नक्षत्रों में होने वाले विलक्षण परिवर्तनों पर विशेष तरह से ध्यान दिया गया। इसमें सबसे ध्यानाकर्षक बदलाव सूर्यग्रहण और चन्द्रग्रहण के समय होते थे। यह अप्रत्याशित बदलाव डरावना भी होता था और इसीलिए इसके इर्द-गिर्द अनेक मिथकों का निर्माण हुआ। इस प्रकार ऐसी विलक्षण प्राकृतिक घटनाओं के साथ भी आदमी एक विशेष तरह का रिश्ता बैठाता रहा। बाद में प्राकृतिक घटनाओं के वैज्ञानिक कारणों की तलाश भी प्राकृतिक घटनाओं के साथ संगति बैठाने के प्रयास का ही एक रूप है। पहले आदमी हर नयी एवं असामान्य प्राकृतिक घटना को समझने के लिए और अपनी स्थिति के बारे में आश्वस्त होने के लिए पारलौकिक मिथकों का सहारा लेता है। फिर आगे बढ़ कर वह उनकी समझ के लिए वैज्ञानिक मिथकों का सहारा लेता है। 'वैज्ञानिक मिथकों' की बात से चौंकना नहीं चाहिए। विज्ञान का पूरा इतिहास बतलाता है कि किसी भी तरह की प्राकृतिक घटना को समझने के लिए जो

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सिद्धान्त पहली बार गढ़े गये वे बाद में ग़लत या आंशिक रूप से ही सही साबित हुए और फिर उनकी जगह नये सिद्धान्तों ने ले ली, जो कालक्रम में फिर अपर्याप्त साबित हुए। वैज्ञानिक सिद्धान्त परिवर्तित हो कर इस अर्थ में ज़्यादा समृद्ध एवं प्रासंगिक होते रहे हैं कि नये सिद्धान्त के आलोक में पुराने सिद्धान्त की अपेक्षा बृहत्तर अनुभवों के क्षेत्र को समझा जा सकता है। लेकिन अगर ये सिद्धान्त इतने परिवर्तनशील हैं तो स्थिति को समझने के मिथक के रूप में इनको स्वीकार करना बिल्कुल ग़लत नहीं होगा। दोनों ही अपने अनुभव के क्षेत्र में आने वाली प्राकृतिक स्थितियों और घटनाओं को अनिश्चितता के दायरे से निश्चितता के दायरे में लाने के प्रयास हैं ताकि आदमी अपने दैनंदिन कामों में अपने परिवेश और अपनी स्थिति के बारे में आश्वस्त हो लग सके। एक पुरोहित या धर्माचार्य जब किसी प्राकृतिक आपदा से निजात दिलाने के लिए पूजा या अन्य अनुष्ठान करता है तब वह इसके प्रति उतना ही आश्वस्त होता है जितना एक वैज्ञानिक जो किसी घटना को अपने अध्ययन के जरिये समझ कर इस समझ के अनुकूल कार्यक्रम बनाता है। इतना फ़र्क़ ज़रूर है कि पहले में सिर्फ़ मनोवैज्ञानिक आश्वस्ति प्राप्त होती है और दूसरे में एक हद की हकीकी तब्दीली की आशा होती है। लेकिन पूर्ण निश्चितता दूसरे में भी नहीं होती, संभावना पहले की अपेक्षा ज़रूर बहुत अधिक होती है। लेकिन दोनों ही परिवेश के साथ सुनिश्चित संगति बैठाने के प्रयास ही हैं। निश्चित और परिचित परिवेश की तलाश जीवों में इतनी गहरी है कि अनेक पक्षियों, मछलियों एवं कछुओं की प्रजातियाँ सैकड़ों और हजारों मील की दूरी पार कर कुछ ख़ास, निश्चित स्थानों पर ही अंडे देने और बच्चों के पालन के लिए पहुँचती हैं। स्थान की पहचान के लिए मनुष्य ने विज्ञान विकसित किया और इस क्रम में सूरज, चांद, तारों, चुम्बकीय कम्पास और जटिल गणित का सहारा लिया। ये सब उसकी संस्कृति की विरासत हैं। पक्षियों, मधुमक्खियों और मछलियों ने स्थान को ढूँढ़ने और वहाँ तक पहुँचने के लिए ऐसी क्षमताओं का विकास अपने शरीर में अपनी आनुवंशिकी के जरिये किया। सांस्कृतिक और जैविक इन दोनों तरह के सूचना तंत्रों का उद्देश्य इन विविध प्रजातियों के जीवन को संभव और सुविधापूर्ण बनाना ही रहा है।

आदमी, मछलियों या दूसरे जीवों की तरह उतना गहरे रूप से किसी परिवेश से बंधा नहीं है। लेकिन एक हद तक वह भी अपने परिवेश प्रेम के अधीन होता है। यह ज़रूर है कि उसका परिवेश अधिक वैविध्यपूर्ण होता है जिसमें कुछ तत्त्व प्राकृतिक होते हैं और कुछ उसके अपने बनाये हुए ठीक वैसे ही जैसे मकड़ी का जाल या चींटियों की बांबी। वह अगर अपना परिवेश बदलता है तो अन्य जीवों जैसा ही आबादी के दबाव, भोजन की कमी या प्राकृतिक आपदाओं से मजबूर होकर ही। लेकिन अनेक पीढ़ियों तक लोक कथाओं एवं कर्मकाण्डों के माध्यम से पुराने परिवेश की स्मृतियाँ जीवित रहती हैं। हमारे अपने समय में यहूदियों में इसकी सबसे अच्छी मिसाल मिलती है जो हजारों साल तक जीवित रखे गये मिथकों के कारण इतिहास के एक त्रासद मोड़ पर अपने आदि पूर्वजों के मिथकीय स्थान इजराइल में पुनः अपना राज्य कायम कर सके। जैसा कि इस उदाहरण से भी सिद्ध होता है किसी समूह का किसी परिवेश से इस तरह बंधे होने का घोर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नकारात्मक पक्ष भी हो सकता है। किसी भूखण्ड, पर्वत, नदी आदि पर ऐसे अधिकार का भावनात्मक धरातल पर रूढ़ हो जाना अनेक संघर्षों और युद्धों का जनक भी हो सकता है। यहूदियों और फिलिस्तीनी अरबों का संघर्ष इसका सब से त्रासद नमूना है।

संस्कृति के अपने पारिस्थितिकीय परिवेश से अनुकूलन के हितकर और हानिकर दोनों ही पक्ष हैं। जैसा कि बतलाया गया है एक स्थान को छोड़ कर दूसरे प्राकृतिक या पारिस्थितिकीय परिवेश में चले जाने से अगर कोई सांस्कृतिक समूह काफ़ी दिनों तक अपने समूह से कटा-छंटा रहा (जैसे भाषाई समूह) तो नये परिवेश में अनुकूलन से उसकी संस्कृति में बिल्कुल नये तरह के गुण विकसित होंगे जो पुराने समूह से उसको बिल्कुल भिन्न कर देंगे। उनके रुझान और उनकी आवश्यकताएँ दोनों ही भिन्न बन सकती हैं। उनकी परंपराएँ भी अलग बनेंगी। सकारात्मक पक्ष यह होगा कि किसी आपदा के कारण एक संस्कृति के नष्ट होने से दूसरी बची रह सकती है क्योंकि आपदा की चुनौतियों का मुकाबला करने में कुछ समूह कुछ नयी क्षमताएँ विकसित कर लेते हैं। इसके आगे चल कर इन समूहों का आपसी संप्रेषण कायम होने पर कुल मिलाकर संपूर्ण मानव समाज की क्षमताएँ विविधतापूर्ण एवं बहुआयामी बन जाती हैं।

एक उदाहरण क्रीट की मिनोयन संस्कृति के नष्ट होने से लेकर यूनानी संस्कृति तक का अभ्युदय है। इस काल में संस्कृति के तीन केन्द्र अस्तित्व में आये जिनमें परवर्ती संस्कृतियों में पूर्ववर्ती मिनोयन संस्कृति के अनेक तत्त्व मौजूद थे हालाँकि ये संस्कृतियाँ एक मानव समूह के दूरवर्ती स्थानों में फैलने से नहीं विकसित हुई थीं। ईसा पूर्व की दूसरी सहस्राब्दी के मध्य तक अपनी आभा फैलाती हुई मिनोयन संस्कृति विनष्ट हो गयी। इसके बाद इस संस्कृति के कुछ तत्त्वों को ढोती यूनान के भौगोलिक क्षेत्र में ही माइसिनियन संस्कृति विकसित हुई। कालान्तर में यह संस्कृति भी नष्ट हुई। लेकिन इन दोनों संस्कृतियों की विरासत ले ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी में यूनान में एक नयी संस्कृति का विकास हुआ जिसने मानव सभ्यता पर चिरस्थायी प्रभाव छोड़ा। लेकिन ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में यह संस्कृति भी नष्ट हुई और इस संस्कृति के तत्त्वों और दक्षिण एशिया की संस्कृति के तत्त्वों को सहेजते हुए इस्लाम के जन्म के बाद छठी शताब्दी में अरब में संस्कृति का एक सर्जनशील केन्द्र विकसित हुआ जिसने तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में यूनान की गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा से अनभिज्ञ यूरोप को यूनान की लुप्तप्राय संस्कृति का ज्ञान दिया। इससे फिर पुनर्जागरण की शुरूआत हुई।

इसका नकारात्मक पक्ष यह है कि इससे एक ही समूह के अलग-अलग हिस्से अलग-अलग आत्मकेन्द्रित समूह में बंट जायेंगे। इससे सभी में अपने समूह की श्रेष्ठता का बोध और दूसरे समूहों की मान्यताओं और जीवन पद्धति के प्रति तिरस्कार का भाव पैदा हो सकता है। चीनियों में केन्द्रीय राज्य होने का अहम्, प्राचीन यूनानियों में हेलेनिक सभ्यता की श्रेष्ठता का भाव, रोमनों का बाकी यूरोपीय समुदायों को बर्बर मानना, भारतीयों का सभी विदेशियों को म्लेच्छ की श्रेणी में रखना कुछ ऐसी ही अवधारणाएँ रही हैं। यहाँ आदमी की आनुवंशिकी से प्राप्त आक्रामकता इस तरह बंटे विभिन्न समूहों को

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

एक-दूसरे से आत्मघाती संघर्षों में झोंक दे सकती है। विख्यात एथोलॉजिस्ट (जीवों के व्यवहार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक) कोनराड लौरेंत्स अपने अध्ययनों से इस नतीजे पर पहुँचा था कि मनुष्य समेत जीवों की सभी प्रजातियों में अपनी ही प्रजाति के अन्य सदस्यों के विरुद्ध एक प्रछन्न आक्रामकता होती है जो अचानक ही सक्रिय हो जाती है और अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों पर हमला करने के लिए प्रोत्साहन देती है। लौरेंत्स का यह भी कहना है कि उन प्रजातियों में जिनके पास प्रकृति-प्रदत्त घातक हथियार जैसे चीर-फाड़ करने लायक दांत, पंजे या चोंच होते हैं एक स्वतःस्फूर्त नियंत्रक प्रवृत्ति होती है जो ऐसी आक्रामकता को वैसी सीमा नहीं पार करने देती जहाँ वह जानलेवा सिद्ध हो सके। प्राकृतिक परिवेश में जीवों में ऐसा ही कारगर आंतरिक नियंत्रण होता है। लेकिन चूँकि मनुष्य में इस तरह के नाखून या दांत नहीं हैं जिनसे वह अपनी प्रजाति के किसी व्यक्ति की हत्या कर सके, शायद इसीलिए उसमें कारगर आंतरिक अवरोध भी आक्रामकता के खिलाफ़ नहीं होता। लेकिन मनुष्य की संस्कृति ने उसे ऐसे हथियारों से लैस कर दिया है कि वह बात की बात में भारी संख्या में लोगों की हत्या कर सकता है। इसी से यह स्थिति पैदा हो गयी है कि सारे जीव जगत् में मनुष्य ही ऐसा है जो छोटी-छोटी उत्तेजना पर अपनी प्रजाति के असंख्य सदस्यों की हत्या कर सकता है, करता रहा है। मानव समाज की त्रासदी यही है कि इसकी संस्कृति ने इसे हथियार और उत्तेजना पैदा करने की शक्ति तो दी है, विविध प्रचार माध्यमों एवं भाषाई तथा कला विधाओं के जरिये, लेकिन अभी तक आत्म-नियंत्रण का कोई कारगर माध्यम नहीं दिया है। धर्म एक माध्यम ज़रूर है जो आदमी को आत्म-नियंत्रण और अन्य मनुष्यों और कुछ में तो सभी जीवों तक से प्रेम करने की सीख देता है। इसके उदात्त मूल्यों का उत्स भी आदमी की आनुवंशिकी से प्राप्त परोपकार की भावना (आल्ट्रइज्म) है जिसने प्रारंभ के दिनों में इसे सामूहिक रूप से शिकार करने और अपनी रक्षा करने के लिए भी भावनात्मक आधार दिया। इसी भावना के कारण सामूहिक शिकार में वह आत्मोत्सर्ग की शक्ति भी आई जिससे शक्तिशाली हिंस्र पशुओं के आघात से जान गँवा कर वह वैसी स्थिति पैदा करता था कि उसके दूसरे साथी हिंस्र पशुओं को मार सकें या स्वयं अपनी जान बचा सकें। इसी भावना के कारण शिकार से प्राप्त भोजन को समूह में समभाव से बाँट कर समूह के कमजोर जीवों को भी जीने और बढ़ने का मौका दिया जाता था। इस तरह प्रजाति की रक्षा होती थी। लेकिन अपने उदात्त लक्ष्य के बावजूद, जैसा कि पहले लिखा गया है, धर्म विभाजित हो अपने अलग-अलग खंडों में ऐसे कुतर्कों को जन्म देते रहे हैं जिनसे उनकी मूल दृष्टि ही नष्ट हो जाती है। मानव समूहों को अपने-पराये—यानी धर्मी और विधर्मी—में बाँट ऐसे ही तर्क से दूसरे समूह के लोगों को अमानव सिद्ध कर दिया जाता है। इस तरह वे अपने धर्म द्वारा लगाये गये नियंत्रणों से मुक्त हो जाते हैं और फिर अपनी आक्रामकता को संस्कृति द्वारा प्रदत्त आयुधों से लैस हो खुल कर खेलने का मौका देते हैं। मानव इतिहास इस प्रक्रिया से पैदा अनगिनत धर्मयुद्धों का साक्षी रहा है।

इस दृष्टि से सामूहिक आक्रामकता का वह आयाम ख़ासतौर से ख़तरनाक सिद्ध होता है जिसे कोनरॉड लौरेंत्स ने एमिटी-एनमिटी कम्प्लेक्स (मित्रभाव-शत्रुभाव ग्रन्थि)

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का नाम दिया है। इस ग्रन्थि का यह चरित्र है कि बाहरी समूह के खिलाफ़ आक्रामकता के क्षणों में अपने समूह के सदस्यों के प्रति अतिशय प्रेमभाव उमड़ पड़ता है। जहाँ समाज कई स्तर के समूहों में बंटा है यह ग्रन्थि भी सोपानवत व्यक्त होती है। जैसे अगर राष्ट्र प्रान्तों, जनपदों एवं गाँवों आदि कई स्तरों की इकाइयों में बंटा है तो बाहरी राष्ट्रों से टकराहट के क्षण में प्रान्तों और जनपदों का आपसी टकराव गौण हो जाता है। प्रान्तों की टकराहट गाँवों की टकराहट को गौण कर देती है। छोटे और स्वाभाविक रूप से अंतरंग संबंध वाले समूहों के प्रति वफ़ादारी ज़्यादा गहरी होती है। दरअसल बड़े समूहों के प्रति वफ़ादारी प्रत्यक्ष नहीं होती। इसे अनेक प्रतीकों एवं प्रचार के द्वारा सुदृढ़ किया जाता है। विशेष तरह के इतिहास का प्रशिक्षण, झण्डे, त्यौहार, राष्ट्रीय आयोजन, संगीत आदि के द्वारा लोगों के मन में इसे बैठाया जाता है। इसीलिए छोटे समूहों की अलगाववादी प्रवृत्तियों को दबाना आसान नहीं होता। इसका निराकरण तभी होता है जब छोटे समूहों को बड़ी इकाई में बांधने वाला कोई ऐसा तत्त्व हो जिसका लाभ लोगों को साफ दिखे। इसी तरह अगर बड़े धार्मिक समूहों के बीच टकराहट होती है तो धर्म के भीतर के संप्रदायों के झगड़े गौण हो जाते हैं। कोई राष्ट्र अगर वर्गों में बंटा है तो राष्ट्रों के बीच लड़ाई में वर्गों की टकराहट गौण हो जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध के समय यह हुआ था जब मजदूर आन्दोलन, जिसने अंतरराष्ट्रीय चरित्र विकसित कर लिया था, युद्ध शुरू होने पर युद्ध उन्माद में मजदूरों के भाईचारे की बात को भूल कर कट्टर राष्ट्रवादी खेमों में बंट गया। इसका एक ख़तरनाक पहलू यह है कि अनेक निहित स्वार्थ अपनी हित रक्षा के लिए ऐसे बड़े स्तर की आक्रामकता को हवा देते हैं। इससे आक्रामकता का रंगमंच वृहत् हो जाता है और आज अगर विध्वंसक हथियारों से लैस दुनिया अंतरराष्ट्रीय युद्ध से एक से अधिक बार विनाश की ओर बढ़ी है तो इसका एक कारण यह भी है। इन संघर्षों को विशेष दिशा में मोड़ने और अधिक भीषण बनाने में भाषा का बड़ा हाथ है। यहाँ प्रतीक यथार्थ का स्थान ले लेते हैं और इससे आदमी अर्थ का अनर्थ करने लगता है। जॉर्ज ऑरवेल के बहुचर्चित उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' में भाषा की दिग्भ्रमित करने की इस क्षमता का अत्यंत ही प्रभावी वर्णन है। इसी प्रक्रिया की अभिव्यक्ति आधुनिक काल में अधिकांश देशों की सरकारों की नीतियों में दिखाई देती है। अक्सर जब किसी देश की सरकार किसी कारण अपने देश के भीतर की समस्याओं से निपटने में अक्षम सिद्ध होती है और लोगों का असंतोष भीतरी संघर्षों को जन्म देता है तो सरकारें दूसरे देशों से वास्तविक या मौखिक संघर्ष में देश को उलझा देती हैं। इसके बाद तुरंत लोग भीतरी झगड़ों को नजरअंदाज कर बाहरी 'दुश्मनों' के विरोध में अपना आक्रोश ज़ाहिर करने लगते हैं। कभी-कभी इससे छोटे-मोटे या वृहत् संघर्ष दूसरे देशों के साथ शुरू हो जाते हैं जिनका परिणाम पूरे देशवासियों के लिए घातक सिद्ध होता है।

हम लोग इस विश्वास को लेकर चलते हैं कि मनुष्य बुद्धियुक्त जीव है जो तर्कों और तथ्यों के आधार पर आचरण करता है। लेकिन असल में हम ऊपर बतलाये गये आंतरिक भावनात्मक दबाव में तथ्यों को नजरअंदाज कर शुद्ध रूप से भावना के आधार पर व्यवहार करने लगते हैं। भाषा वैज्ञानिक अल्फ्रेड कौरजिब्सकी ने प्रथम विश्वयुद्ध के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बाद ही इस तथ्य की ओर लोगों का ध्यान खींचा था कि लोग मनुष्यों और उनकी वास्तविक स्थितियों पर प्रतिक्रियाएँ नहीं व्यक्त करते बल्कि उन लेबुलों पर करते हैं जो उन्हें अपने समूह की परंपरा से प्राप्त हुआ है। स्वयं ब्रिटेन में ऊपरी वर्ग के लोगों में 'वर्किंग क्लास स्मेल' (मजदूरों की बदबू) की धारणा हाल-हाल तक व्याप्त रही है जिसका हकीकत से कोई रिश्ता नहीं हो सकता। दिलचस्प बात यह है कि भारत में भी इसी तरह मुसलमानों के बारे में हिन्दुओं में यह निराधार धारणा व्याप्त है कि वे अपने रहन-सहन में पानी का व्यवहार कम करते हैं और गंदे होते हैं। जबकि हकीकत यह है कि वजू करना यानी हर मौके पर हाथ-पांव धोना और पानी से प्रेम मुसलमानों में कुछ अधिक ही है। यहाँ इसका उल्लेख करना दिलचस्प होगा कि इतिहासकार एच.ए.एल. फिशर ने अपने यूरोप के इतिहास में स्पेन में अरबों की राजधानी कौरडोबा के वर्णन में इस बात की विशेष रूप से चर्चा की है कि वहाँ नौ सौ मस्जिद और नौ सौ सामूहिक स्नानागार बनाये गये थे, पहला आत्मा की पवित्रता और दूसरा शरीर की पवित्रता के लिए। लेकिन इस तरह की भावना इतनी जड़ होती है कि किसी परंपरावादी हिन्दू को किसी भी तरह आप इस हकीकत को कबूल करने के लिए तैयार नहीं कर सकते। इसी तरह की भावना मुसलमानों की पश्चिम दिशा में मुँह कर नमाज अता करने के विषय में है। मुसलमान ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि उनका सर्वोच्च धर्म-स्थान मक्का और मदीना पश्चिम में हैं। लेकिन हिन्दुओं में यह आम धारणा फैलायी गयी है कि वे ऐसा इसलिए करते हैं क्योंकि हिन्दू पूरब की ओर मुँह कर पूजा करते हैं; हालाँकि हिन्दुओं में पूरब की ओर मुँह कर के पूजा करना किसी निश्चित नियम का हिस्सा नहीं है। महान साहित्यकार शेक्सपीयर ने अपने नाटक जुलियस सीजर में नाम पर लोगों की कैसी प्रतिक्रिया होती है इसका एक रोचक वर्णन किया है। घटना सीजर की हत्या के बाद भीड़ का उत्तेजित हो कर हत्यारे की तलाश करने की है।

भीड़ : सच, सच तुम्हारा नाम?

सिन्ना : मेरा नाम सिन्ना है।

भीड़ : उसके टुकड़े-टुकड़े कर दो वह षड्यन्त्रकारी सिन्ना है।

सिन्ना : नहीं, नहीं, मैं कवि सिन्ना हूँ, मैं कवि सिन्ना हूँ।

भीड़ : उसे उसकी बुरी कविताओं के लिए टुकड़े-टुकड़े कर डालो।

सिन्ना : मैं षड्यन्त्रकारी सिन्ना नहीं हूँ।

भीड़ : कोई बात नहीं, उसका नाम सिन्ना है।

यह वास्तविक घटना का वर्णन नहीं है लेकिन एक महान साहित्यकार ने अपनी पैनी दृष्टि से एक आम मनोभाव को कल्पना के द्वारा अभिव्यक्ति दे दी है। भारत में तो हिन्दू-मुस्लिम दंगों और दिल्ली में सिखों के खिलाफ़ 1984 के दंगों में इस तरह की असली स्थितियों की अनगिनत मिसालें चर्चा में रही हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अपने छोटे समूहों के प्रति अंधी और गहरी वफ़ादारी के दुष्परिणाम तो मनुष्य की पूरी मनोवैज्ञानिक बनावट के संदर्भ में स्पष्ट दिखाई देते हैं लेकिन अपने नजदीकी परिवेश से अलग उसकी सर्जनात्मक और रचनात्मक प्रतिभाओं का विकास भी नहीं हो सकता। शैशवकाल से मनुष्य की सारी प्रवृत्तियों का विकास उसके निकटतम कुटुम्बियों और समुदाय के सान्निध्य में ही होता है। पास-पड़ोस के वृक्ष, पर्वत, झरने, जलाशय आदि वह भावभूमि बनाते हैं जो उसकी अभिव्यक्ति को रंग-रूप देते हैं। कला एवं साहित्य सृजन के क्षेत्रों में सभी अंतरंग भावनाओं का उत्स यही परिवेश होता है। सच तो यह है कि यही सब प्रतीक बन उसके काव्यों को जीवंत अभिव्यक्ति प्रदान करते हैं। यही कारण है कि आधुनिक नगरों में पले-बढ़े साहित्यकारों के साहित्य में प्रकृति अनुपस्थित होती है या हाशिये पर चली गयी होती है क्योंकि नगरों की ज़िन्दगी लोहे, कंक्रीट से बने मकानों के जंगल में ही कटती है, जहाँ झरनों का स्थान कृत्रिम फौवारे और जलाशयों का स्थान स्वीमिंग पूल ले लेते हैं। यह भी सच है कि सभी विविधताओं के बावजूद मानव प्रजाति की कुछ अन्तर्निहित समान प्रवृत्तियाँ हैं जो अलग परिवेशों के बावजूद विभिन्न परिवेशों में पले मनुष्यों के बीच भी संप्रेषण का मार्ग खुला रखती हैं। लेकिन अपनी पूरी गरिमा और संपन्नता में संप्रेषित होने के लिए भावभूमि की समानता अनिवार्य है। यही कारण है कि मीडिया द्वारा अत्यधिक प्रचारित होने के बावजूद कोई साहित्यिक कृति इस अर्थ में वैश्विक नहीं बन पाती कि विश्व के सभी अंचलों में लोग समान रूप से उससे मुग्ध हो सकें।

सांस्कृतिक जीव बनना मनुष्य की नियति थी क्योंकि उसमें वैसी सहज प्रवृत्तियों का विकास संभव नहीं था जो अधिकांश दूसरे जीवों को उनके जटिल वातावरण की समस्याओं से निपटने में सक्षम बनाती हैं। लेकिन सांस्कृतिक जीव बनने के साथ-साथ एक जोख़िम भी सदा जुड़ी रही है। सहज प्रवृत्ति की तरह कोई निर्णायक आदेश उसे दुविधापूर्ण स्थितियों में नहीं होता जिससे वह निश्चिंत हो कोई कदम उठाये। उसे हर दोराहे पर उचित-अनुचित, सुरक्षित-ख़तरनाक, शत्रुतापूर्ण-मित्रतापूर्ण ऐसे विकल्पों पर स्वयं निर्णय करना होता है। संस्कृति द्वारा बतलाया गया विकल्प उतना निश्चयात्मक नहीं होता जितना सहज प्रवृत्ति द्वारा बतलाया गया। ऐसे बिन्दुओं पर उसे अन्तर्निहित भावनात्मक झुकावों और तर्कसंगत कदमों के बीच चुनाव करना होता है, जो आसान नहीं होता। भावना का दबाव जबरदस्त होता है, लेकिन ग़लत दिशा में बहाकर ले जाने वाला भी। तर्कसंगत निर्णय अक्सर आदिम प्रवृत्तियों के विपरीत पड़ता है और इसे आन्तरिक अवरोधों का सामना करना पड़ता है। मानव समाज में प्रायः भावनात्मक निर्णयों का पलड़ा भारी पड़ता रहा है और परिणाम है इतिहास में बार-बार मानव अस्तित्व का संकट पैदा होना और इतिहास के पथ का युद्ध, नरसंहारों और विध्वंसों से पटा होना। मनुष्य विज्ञान और तर्क बुद्धि से प्राकृतिक परिवेश के सही आकलन की दिशा में सतत बढ़ता रहा है लेकिन सामाजिक जीवन के गंतव्य के संबंध में सदा एक ऊहापोह की स्थिति बनी रही है और इससे उबरने का रास्ता कोई विज्ञान या दर्शन अभी तक विकसित नहीं कर पाया है।

•

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : छह

आनन्द की इच्छा और कला

शमा से परवाने के प्रेम या दीपक पर पतिंगे के आत्मबलिदान का उल्लेख साहित्य में प्रेम के आदर्श या अपना विनाश बुलाने वाले पागलपन भरे आकर्षण के रूप में बार-बार आता है। इसे हम अक्सर कवि की कल्पना के रूप में खारिज कर देते हैं। जीव वैज्ञानिक इसे 'ट्रौपिज्म' का नाम देते हैं और एक अदृश्य धनात्मक खिंचाव (पोजिटिव ट्रौपिज्म) या ऋणात्मक खिंचाव (निगेटिव ट्रौपिज्म) के रूप में पेश करते हैं। इसमें पहले का उदाहरण पतिंगों का प्रकाश की ओर दौड़ना और दूसरे का खटमल का प्रकाश से भागना आदि दिये जाते हैं। इसकी तर्ज पर कुछ उत्साही रोबोट वैज्ञानिकों ने ऐसे रोबोट (तर्कयुक्त यांत्रिक जीव) भी बनाये हैं जो प्रकाश की तरफ़ या इससे दूर इन्हीं कीड़ों की तरह दौड़ते हैं। इससे यह भ्रम पैदा हो जाता है कि जीवों में भी ऐसा व्यवहार नितांत यांत्रिक है। लेकिन पतिंगे और खटमल से भी जीवन की सीढ़ी पर निम्नतर स्तर वाले प्रारंभिक अवस्था के जीव प्रोटोजोआ में भी जीवन के लिए 'दु:खदायी' या घातक स्थितियों से दूर भागने और जीवनदायी 'सुखद' स्थितियों की तरफ़ बढ़ने का गुण दिखाई पड़ता है। जीवाणुओं में यह अनुभूति कैसी होती है हम नहीं जान सकते। दूसरे मनुष्यों के सुख-दु:ख की भी हम कल्पना ही कर सकते हैं—उनसे प्राप्त संकेतों से। उनके भीतर पहुँच सीधा अनुभव का रास्ता वैसा ही बंद है जैसी जर्मन दार्शनिक लाइबनित्स ने 'विंडोलेस मोनैडों' खिड़कीहीन मोनेड के साथ संवाद की असंभवता की कल्पना की थी।[1] यह बात दीगर है कि दूसरे जीवों से प्राप्त संकेतों के आधार पर हम उनके मनोभावों से तादात्म्य (इंपैथी) स्थापित कर उनके दु:ख का एहसास कर लेते हैं। प्राणियों के व्यवहारों के अध्येता एथोलॉजिस्ट प्राणियों के संकेत—जैसे पक्षियों की आवाज से जो एक भौतिक उपस्थिति है—आवाज करने वाले की स्थिति का अंदाज

---

1. लाइबनित्स : जर्मन दार्शनिक (1646-1716)। उसने संसार की बनावट की कल्पना ऐसे खिड़कीविहीन मोनेडों यानी ऐसे तत्त्वों से की थी जिनका एक-दूसरे के साथ कोई प्रक्रियात्मक या संप्रेषणात्मक संबंध नहीं है। लेकिन चूंकि इनके बीच एक अदृश्य प्रारंभिक संगति (प्रि-इस्टैबलिश्ड हार्मोनी) है इसलिए इनके क्रियाकलापों में कार्य-कारण संबंध दिखाई देता है। अगर हम चेतनायुक्त इकाइयों को ऐसा ही मोनेड मान लें तो इनके भीतर झांकना तो असंभव लगेगा लेकिन अपने भीतर दूसरे जीवों की चेतना को आंकना (इंपैथी) संभव लग सकता है। दूसरों की चेतना की हमारी समझ का यही आधार संभव है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

करते हैं और फिर सुनने वाले पक्षी की प्रतिक्रिया का आकलन करते हैं। यह प्रतिक्रिया सुनने वाले पक्षी के लिए संकेत का अर्थ बतलाती है। यहाँ भी दूसरे पक्षी का पहले के बारे में ज्ञान अनुमान ही है। दूसरों की स्थिति की समझ की प्रक्रिया का यह एक सार्वजनीन सत्य है। इसकी ओर ध्यान इसलिए खींचा गया ताकि हम कुछ भरोसे के साथ दूसरे जीवों के व्यवहारों से उनके मनोभावों को जोड़ अपनी बात रख सकें। ऐसे संकेत भ्रम भी पैदा कर सकते हैं, लेकिन वह एक विशेष स्थिति होती है। इसी प्रक्रिया के तहत हम विशेष परिस्थितियों में इन जीवाणुओं की सिकुड़न को अपने शरीर में आपदा में पैदा सिहरन जैसा मान उससे उनमें किसी दुःखदायी अनुभूति की कल्पना कर सकते हैं। इसके पीछे यह मान्यता है कि कीटाणुओं से लेकर मनुष्यों तक जीव जगत् के अंग हैं जिनमें संवेदना का मौलिक गुण है। हमारे सारे ज्ञान इस अर्थ में अप्रत्यक्ष ही हैं, इसलिए हम जीवों के दृश्य व्यवहारों से उनके सुख-दुःख की अनुभूति को कबूल करने को विवश हैं।

सच कहें तो निम्नातिनिम्न जीवों में भी उपस्थित यह सुख-दुःख की अनुभूति, यह भावनात्मक संवेदना ही जीवन का आधार है। गणितीय क्षमता या तार्किकता वह गुण नहीं है जो जीव जगत् को या मनुष्य को निर्जीव जगत् से अलग करता है। उसका मूल गुण जो उसे चेतनाशून्य जगत् से अलग करता है वह है उसकी संवेदनशीलता जिससे वह सुख अथवा दुःख का अनुभव करता है। वैसे तो सारा ब्रह्माण्ड—परमाणुओं और सूक्ष्म क्वार्कों से लेकर विशाल पदार्थ पुंजों, तारों, ब्लैक होल और नीहारिकाओं तक—गणितीय नियमों से बंधा लगता है जिससे इसमें व्याप्त तत्त्वों में वैसी संगति दिखाई देती है जिसके अन्वेषण में भौतिक शास्त्री लगे हैं। लेकिन जो चीज़ इस सारे भौतिक संसार में नदारद है वह है वैसी अनुभूति जिसके प्रभाव में वह कुछ स्थितियों से बचना चाहता है और कुछ अन्य स्थितियों की तरफ़ आकृष्ट होता है। ज़्यादा से ज़्यादा सक्षम रोबोट में भी, जिसकी कल्पना की जा सकती है यह अनुभूति का गुण नहीं है। जबकि किसी अकिंचन जीव में भी यह गुण है। यह दोनों के बुनियादी फ़र्क़ को रेखांकित करता है। दोनों के बीच यह एक ऐसी अलंघ्य सीमारेखा है जिसे मिटाया नहीं जा सकता। यही जीवन की विशिष्टता है।

एक स्थूल अर्थ में वैसी हर वस्तु जो जीवन को विस्तार देती है आनन्ददायक भी होती है—जैसे सुस्वाद भोजन, निर्विघ्न निद्रा, रति आदि। एक वाक्य में कहें तो आनन्द ही जीवन का आधार है—आनन्द का यहाँ व्यापक अर्थ है जिसमें सुख और दुःख दोनों का आस्वादन शामिल है।

ऊपर की यह दार्शनिक भूमिका संस्कृति में कलाओं के स्थान को निरूपित करने में सहायक होगी। इस आनन्द का ही एक रूप कलाओं से रस के आस्वादन से जुड़ा है। भारतीय परंपरा के अनुरूप भरत ने अपने नाट्यशास्त्र में कलाओं के रस की तुलना व्यंजनों के आस्वाद से करके एक बुनियादी तथ्य को उद्घाटित किया है। आदमी के कलाओं के प्रति आकर्षण का आधार यही हो सकता है : व्यक्ति या मानव प्रजाति के लिए कलाओं के दूसरे व्यक्त प्रयोजन चाहे जो भी हों। यह आनन्द आकार (फार्म) और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विषय-वस्तु (कन्टेन्ट) दोनों स्तर पर प्राप्त होता है। आकार के स्तर पर इसका संबंध मनुष्य की सूचनाओं को ग्रहण करने की प्रक्रिया और उसकी मस्तिष्क की क्षमता से है। मनुष्य की सूचनाओं को ग्रहण करने और उनका चयन कर अर्थ देने की क्षमता सीमित होती है। बाह्य जगत् से आने वाले अनगिनत संवेदनों में जो आवश्यक हों उन्हें अपनी क्षमता के भीतर अंटने के लायक बनाकर ही मानव मस्तिष्क इनका कोई अर्थ निकाल सकता है। यह छंटनी का काम उस अन्तर्भूत अचेतन प्रक्रिया के द्वारा होता है जिससे सूचनाओं के एक विशाल हिस्से को अनावश्यक बना दिया जाता है, यानी नजरअंदाज किया जा सकता है। इस प्रक्रिया को सूचना विशेषज्ञों द्वारा अंग्रेजी में 'इनफोरमेशन रिडेन्डेन्सी' का नाम दिया जाता है। उदाहरण के लिए एक नियमबद्ध रेखा—चाहे वह सीधी हो, वृत्ताकार हो या अन्य आकार की हो—के मूल चरित्र को जान लेने पर उसको बनाने वाले असंख्य बिन्दुओं पर ध्यान देने की ज़रूरत नहीं होती। इसी कारण उसके चरित्र को सरल ज्यामितीय समीकरण द्वारा भी अभिव्यक्त किया जा सकता है। इसके विपरीत अगर रेखा टेढ़ी-मेढ़ी, अनेक कोणों वाली हो तो इसका जायजा लेने के लिए इसे बनाने वाले घुमाव के सभी बिंदुओं की विशिष्टताओं पर ध्यान देना होता है—यानी ऐसे सभी बिंदु सूचना स्रोत होंगे जिन्हें नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। इससे अनेक अतिरिक्त सूचनाओं का शुमार करना होगा और मस्तिष्क पर बोझ बढ़ जायेगा। इसके परिणामस्वरूप पहली स्थिति सुखद मालूम होगी और दूसरी थकाने वाली और कष्टदायी। यह फ़र्क़ समतल धरातल और ऊबड़खाबड़ धरातल का जायजा लेने या लयबद्ध स्वर और लयहीन स्वर आदि के आकलन में भी किया जायेगा। इसी तरह का अनुभव सरलरेखा से बने आकारों के साथ भी होता है यानी वृत्त, आयत, वर्ग या समकोण त्रिभुज जैसे रेखकीय आकारों का जायजा लेना सुखकर होगा और अनियमित बने आकार खीझ पैदा करेंगे। आदमी आवाज के प्रति इतना संवेदनशील है कि लयबद्ध संगीत और बेसुरे राग के बीच अंतर करने में उसे क्षण भर की भी देर नहीं लगती भले ही उसे संगीत की कोई शिक्षा नहीं मिली हो। सममिति, संतुलन, लयबद्धता ये सब सुखद अनुभव पैदा करने वाले होते हैं चाहे वे दृश्य वस्तुओं में हों चाहे श्रव्य वस्तुओं में। यही कारण है कि हमारे आसपास के पेड़-पौधों के पत्तों और फूलों एवं पशु-पक्षियों को देखना सुखद होता है—क्योंकि अधिकांश फूल-पत्ते, वृक्ष या पशु जो हमारे आसपास दिखायी देते हैं सममितीय होते हैं और फूलों में तो दलों का भी लयबद्ध संयोजन होता है। इसी कारण शांत जल में उठती तरंगें देखना सुखद लगता है, इनमें सममिति और लय—यानी समय के साथ नियमित चढ़ाव-उतार दोनों होते हैं। लहरों के आकार की उतार-चढ़ाव वाली रेखाएँ या सतह भी इसी कारण आकर्षक लगते हैं। भारतीय चित्रकला और मूर्तिकला में त्रिभंग मुद्रा (नटराज की या पद्मपाणि बुद्ध की मुद्रा जैसी) की बहुलता इसके उदाहरण हैं। इस्लाम की अमूर्तन कला में कैलीग्राफी (अक्षरों की सजावट) में रेखाओं की ऐसी ही लयबद्धता से सौंदर्य-बोध आता है। लेकिन इससे यह सोचना ग़लत होगा कि कला मूलतः ऐसी चिकनी, स्निग्ध चढ़ाव-उतार वाली रेखाओं, सतहों और स्वरों से ही बनी होती है। ये कलात्मक अभिव्यक्ति और आस्वाद की तह में ज़रूर होते हैं, लेकिन कला में ऊबाऊ एकरसता आ जायेगी अगर कला सिर्फ़ स्निग्ध और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नियमित आकारों को स्थान दे। आदमी नियमबद्धता के साथ-साथ नयापन भी ढूँढ़ता है। यहाँ व्यंजनों वाली उपमा ध्यान में रखने लायक है। स्वादिष्ट व्यंजन सिर्फ़ मिठास नहीं देता। इसके स्वाद का आनन्द इसके साथ तीता, खट्टा, नमकीन, कसैला जैसे अनेक स्वादों के मिश्रण से ही आता है। कला में भी चिकने, खुरदरे, समतल, ऊबड़-खाबड़ जैसी अनेक तरह की सतहों का संयोजन होता है। चूँकि ये सब आकार से संबद्ध कला सौंदर्य के पहलू हैं, इनका प्रधान गुण अमूर्तनात्मक है। ये आकार के अपने गुणों को व्यक्त करते हैं। लेकिन प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक की कलाओं में विशेषकर दृश्य कला में मनुष्य, जीव-जंतु या संसार की अन्य किसी वस्तु की अनुकृतियों की प्रधानता रही है। द्रष्टा को भी किसी परिचित वस्तु या व्यक्ति की तस्वीर देखकर सहज आनन्द का अनुभव होता है। जाने-माने कला इतिहासकार ई.एच. गोंब्रिच ने अपने लेख 'विजुअल डिस्कवरी थ्रू आर्ट' में इसकी जड़ में हमारे मस्तिष्क को किसी वस्तु को याद करने की और उसकी पहचान करने की क्षमताओं की भिन्नता बतलायी है।[1] किसी वस्तु को याद कर दिमाग में लाना (रिकॉल) बहुत ही कठिन, बल्कि इसकी पूर्णता में तो असंभव काम है। परिचित से परिचित वस्तु के सभी अवयवों, उनके संयोजन तथा उनकी विशिष्टताओं को हम याददाश्त के भीतर नहीं ला सकते। कुछ न कुछ सदा पकड़ के बाहर रह जाता है। इसके विपरीत किसी तस्वीर को देखते ही उसमें दिखलायी गयी वस्तु, अगर वह पहले से देखी गयी है तो हम पलभर में पहचान लेते हैं। किसी वस्तु को उसकी समग्रता में पकड़ पाने का बोध जो चित्र देखने से आता है याददाश्त की पकड़ से सदा बाहर खिसकता मालूम पड़ता है, अनिश्चितता से निश्चितता की स्थिति में लाने की प्रक्रिया है। इसी प्रक्रिया से हमें आनन्द की अनुभूति होती है। किसी सुखद सपने का टूट जाना और फिर उसे वापस लाने की असमर्थता अत्यंत ही दु:खदायी होती है। मैथिली के प्राचीन कवि विद्यापति की तो एक विख्यात कविता ऐसे ही स्वप्न के टूट जाने का विलाप है। आदिकाल से ही मनुष्य अपने आसपास की दुनिया के क्षण-क्षण बदलने और विलीन होने की प्रक्रिया से विस्मित और परेशान रहता होगा। अनुभव के इन क्षणों को तस्वीर या किसी और कला विधा में पकड़ पाना सदा अद्भुत आनन्द का स्रोत रहा होगा। किसी वस्तु को रूपाकार देने वाली कला की अपील का यही स्रोत है।

अपनी परिचित और प्रिय वस्तु को चित्रित करने का आंतरिक दबाव कितना प्रबल है इसका उदाहरण छोटे बच्चों द्वारा चित्र बनाने के प्रथम प्रयास में मिलता है। शिशुओं में चित्र बनाने के पहले तो पेंसिल या खड़िया से तरह-तरह के प्रयोग और खोज करने के क्रम में रेखाएँ बनाने की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति में मानव शिशु अकेला नहीं होता, खोजी वृत्ति वाले अन्य जीवों में मनुष्य से सबसे नजदीकी चिंपैंजी में भी लकीर खींचने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन इस प्रक्रिया में वह किसी वस्तु का चित्र नहीं बना पाता, ज़्यादा से ज़्यादा लकीरों के एक-दूसरे के काटने के क्रम में पंखे जैसी आकृति का

1. E.H. Gombrich, Visual Discovery Through Art, Penguin Readings, Edited by James Hogg, Penguin Book, England, 1969.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

निर्माण कर पाता है। शायद यह उसकी अवधारणात्मक क्षमता की सीमा के कारण होता है। लेकिन मानव शिशु धीरे-धीरे लकीरों से गोलाकार वृत्त का निर्माण करता है, फिर उसमें दो छोटे-छोटे वृत्त बना आँख और फिर एक तीसरा वृत्त डाल मुँह बनाता है। इससे और आगे बढ़ इसमें अन्य लकीर जोड़ केश एवं हाथ-पांव वगैरह का निर्माण करता है (चित्र 6)। यह विकास निश्चय ही सदा देखी गयी प्रिय वस्तु अपनी माँ के मुख की आकृति बनाने में सृजन के सुख की अनुभूति से आता है। इसके बाद स्वतःस्फूर्त रूप से चित्र बनाने की प्रक्रिया बंद हो जाती है। बाद के काल में प्रशिक्षण के द्वारा ही मनुष्य देखी गयी वस्तु जैसा कोई चित्र निर्मित करता है। यह बार-बार देखी गयी वस्तु और बनायी गयी अनुकृति की तुलना करने की प्रक्रिया से ही संभव होता है। लेकिन इसमें किसी हद की सफलता अकेले अपने प्रयासों से नहीं आती, बल्कि समाज में चित्र बनाने की उपलब्ध परंपरा से प्राप्त 'कोडों' (कूट संकेतों) को सीखने से ही आती है। एक उदाहरण परिप्रेक्ष्य (पर्सपेक्टिव) का है जो वस्तुओं को उनकी दूरी के हिसाब से छोटा या बड़ा आकार देकर दृश्य में विश्वसनीयता पैदा करता है। यह किसी अकेले व्यक्ति की सूझ का परिणाम नहीं होता। कुछ संस्कृतियों में अनेक पीढ़ियों के कलाकारों ने टटोल-टटोल कर प्रयोगों से इसे विकसित किया। इसी तरह दूसरे अनेक कोड विकसित हुए।

देखी गयी वस्तु से चित्रों में सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास प्राचीन प्रस्तर युग में हजारों वर्ष चला होगा और उसमें चित्र बनाने के ऐसे कोड विकसित हुए होंगे। यह स्पेन की अल्तामीरा गुफ़ा में बनाये गये बाइसन के चित्र से स्पष्ट है, क्योंकि उसमें काफ़ी जटिल कोडों का इस्तेमाल चित्र को स्वाभाविकता प्रदान करने के लिए किया गया है। इस तरह मनुष्य का चित्र बना। इसमें देखी गयी वस्तु से सामंजस्य पैदा करने का अन्तर्भूत दबाव संस्कृति का अंग आज से कम से कम तीस हजार वर्ष पहले बन चुका था।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना ज़रूरी है कि 'कला के लिए कला' का विचार काफ़ी हाल का है और प्राचीनकाल में कला के रूप में कला का विकास नहीं हुआ था। इसकी शुरूआत मनुष्य के प्रारंभिक काल के जीवन-संघर्ष के क्रम में शिकार एवं अपनी रक्षा के लिए हथियार बनाने या सामूहिक प्रयासों को बल देने वाली सांकेतिक प्रक्रियाओं से अनपेक्षित अवदान के रूप में ही हुई होगी। संभवत: शिकारी जीवन में सबसे पहले संकेतों की आंगिक भाषा का विकास इशारे से शिकार पकड़ने में एक-दूसरे के प्रयासों को समन्वित और प्रोत्साहित करने में हुआ होगा और फिर बाद में ऐसे ही संकेतों का संयोजन नृत्य के द्वारा जीवन की विभिन्न स्थितियों, शिकार में मारे जाने वाले जीवों और ऋतुओं के वर्णन के लिए हुआ होगा। लेकिन इन प्रक्रियाओं को नृत्य में मनुष्य के स्वभाव में अन्तर्निहित लय और ताल में बांधने से एक अतिरिक्त आनन्द का स्रोत उपलब्ध हुआ होगा जिसे परंपराओं में जीवित और विकसित किया गया होगा। यह भी संभव है कि नृत्य की शुरूआत उन दैवी शक्तियों की तुष्टि के लिए हुई हो जिन्हें आदि मानव प्राकृतिक आपदाओं एवं वरदानों की जननी मानता रहा होगा। प्राचीन प्रस्तर युग की त्रोआफेर की गुफ़ा में नृत्य की मुद्रा में एक मुखौटायुक्त व्यक्ति की आकृति है। अंदाज किया जाता है कि यह किसी ओझा, गुणी या जादूगर की आकृति होगी (देखें चित्र 4)।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

चित्र 6

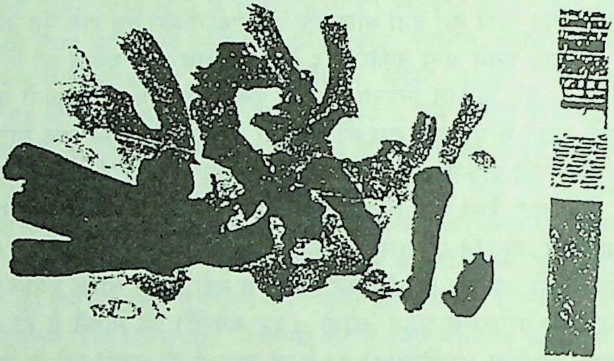

चिंपैंजी द्वारा निर्मित चित्र। कूंची से बने निशानों से पंखे जैसी आकृति।

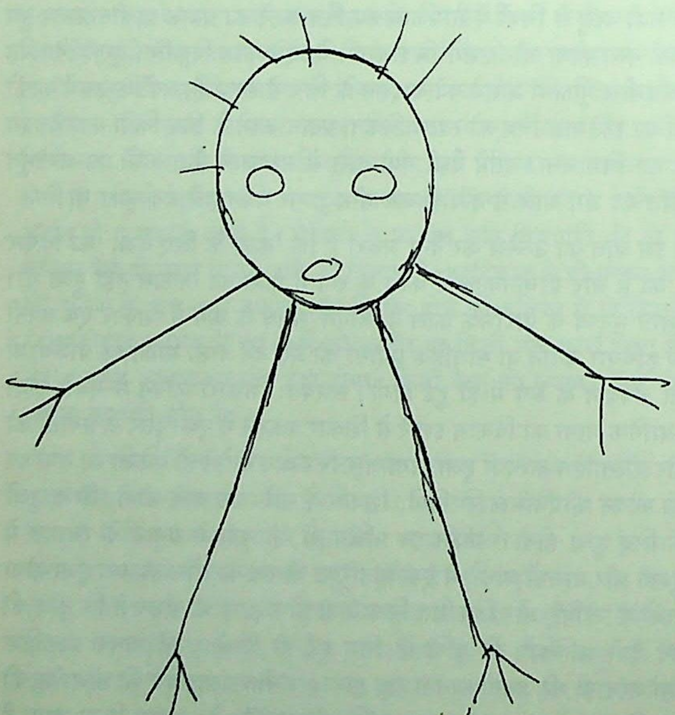

मानव शिशु द्वारा बनायी गयी आकृति

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

इस अतीत काल में मुखौटों का प्रयोग जीव जगत् की प्रक्रियाओं से संस्कृति की एक-दूसरी निरंतरता की ओर इशारा करता है। जीव जगत् में चारों ओर दुश्मनों को डराने के लिए या अपनी प्रजाति के नर या मादा को आकृष्ट करने के लिए शरीर पर ऐसे रंग, पंख, सींग आदि विकसित हुए हैं जिनकी जीवन-संघर्ष में प्रत्यक्ष रूप से कोई आवश्यकता नहीं दिखायी देती। ऐसे उदाहरणों में हैं मादा को आकर्षित करने के लिए बारहसींगों में विशाल सींग, कुछ तितलियों की पीठ पर आँखों जैसे गोल-गोल बड़े आकार जिन्हें देख कर इन्हें खाने वाले पक्षी डर कर हमला नहीं करें, पशु एवं पक्षियों में ऐसे रंगों का विकास जिनसे वे अपने पड़ोस के पेड़-पौधों अथवा मिट्टी-पत्थर से एकाकार हो अपने शिकार के लिए या अपना शिकार करने वाले जीवों के लिए अदृश्य बने रहें। छद्मावरण (कैमोफ्लेज) चारों ओर दिखायी देता है। मनुष्य ने अपनी संस्कृति से ऐसे ही अवसरों के लिए ऐसे ही मुखौटों और छद्मावरणों का आविष्कार किया है। कला के विकास में भी इन छद्मावरणों और मुखौटों की भूमिका रही होगी। यह अनुमान किया जा सकता है कि सबसे आदिम कला, जो आज भी 'फोक आर्ट' (लोककला) के रूप में जीवित है, विभिन्न अवसरों के लिए शरीर और आवास को सजाने के लिए विकसित हुई होगी। पक्षियों की कलगी की तर्ज पर तरह-तरह की कलगी और मुकुट, वस्त्र और आभूषण कौड़ी और सीपों से लेकर रंग-बिरंगे पत्थरों और कालांतर में धातुओं के बनने लगे। प्राचीन पाषाण युग के अवशेषों और आदिम कब्रों में ऐसे गहनों की उपस्थिति से अति प्राचीनकाल से इनके प्रयोग का पता चलता है। इन सबका प्रयोजन वही है जो पशु-पक्षियों में विविध तरह के प्रकृति प्रदत्त रोंयें और परों की सजावट का। इससे भी आगे बढ़ मनुष्य ने स्वयं अपने चमड़े को रंगने और गोदने से सजावट की कला विकसित की। विख्यात नृशास्त्री क्लोद लेवी स्ट्रॉस ने न्यूजीलैंड के मैओरी गोदनों और ब्राजील के काडुवियो कबीले एवं कई अन्य समूहों के गोदनों एवं रंग से चेहरे पर आकृतियाँ बनाने की परिपाटी और मुखौटों के तुलनात्मक अध्ययन से इन्हें उनके समाजों की पूरी सरंचनात्मक व्यवस्था से जोड़ने की कोशिश की है।[1] आदिम युद्ध-नृत्यों में तरह-तरह के गुखौटे वैसी ही भूमिका निभाते हैं जैसी पशुओं के डील-डौल और शक्ति को बढ़ा कर बतलाने वाले अंग और पैंतरेबाजी निभाती हैं। दरअसल इस तरह के प्रदर्शनकारी विकास के चलते कई प्रजातियों के दांत एवं सींग इतने बेतरतीब बढ़ गये थे कि युद्ध के लिए अपने डील-डौल के कारण ही अनुपयोगी बन गये। सामंती युग में सामंतों के भारी भरकम बख्तर ऐसे ही शक्ति-प्रदर्शन के माध्यम थे, जो युद्ध के लिए उतने ही अनुपयोगी साबित होते थे।

पशुओं में अपनी प्रजाति के अन्य प्रतिद्वन्द्वियों के खिलाफ़ शक्ति-प्रदर्शन के लिए बिल्ली, नेवला आदि द्वारा आकार बढ़ाने के लिए रोंआ खड़ा करने या अन्य पैंतरेबाजी के समानांतर मनुष्यों में भी कुछ प्रतियोगिताओं, जैसे कुश्ती और मुक्केबाजी में जिनमें आदमी अपनी आदिम अवस्था से सबसे करीबी तेवर में होता है, जटिल पैंतरेबाजियाँ

1. Claude Levi Strauss, Split Representation in the Art of Asia and America, in Structural Anthropology, Peregrine Book, 1977.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

उसके अतीत के अवशेष ही हैं, जब आदमी अपने डील-डौल के प्रदर्शन से ही अन्य प्रजातियों की तरह प्रतिद्वन्द्वी को हार मानने को मजबूर कर सकता था। चित्र 7 में भेड़ियों में प्रभुता और दीनता का प्रदर्शन दिखलाया गया है। वर्तमान काल में सोवियत यूनियन में कम्युनिस्ट शासन के तहत मई दिवस के अवसर पर और भारत में गणतंत्र दिवस पर सैन्य शक्ति की परेड शक्ति-प्रदर्शन की ऐसी ही आदिम अभिव्यक्ति है। कबायली संघर्षों में अनेक डरावने मुखौटों और साज-सज्जा से युक्त युद्ध-नृत्य प्रतिद्वन्द्वियों को भयभीत करने के लिए ही होते होंगे। आगे चल कर इसी की प्रतीकात्मक और कलात्मक अभिव्यक्ति रंगमंच पर व्यक्तिगत या सामूहिक नृत्यों में होने लगी।

चित्र 7

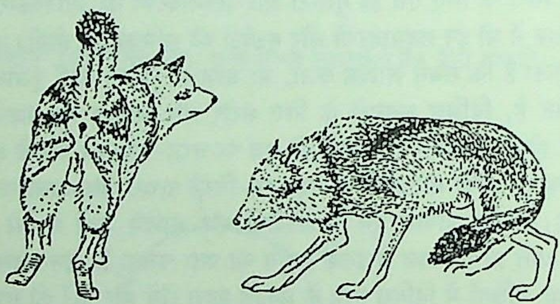

भाव भंगिमा से प्रभुता और हीनता का प्रदर्शन। शक्तिशाली भेड़िया (बायें) और अधीनता कबूल करने वाला भेड़िया (दायें)।

आधुनिक युद्धों से मानव अस्तित्व के संकट का एक आयाम यह भी है कि अब युद्ध में शक्ति-प्रदर्शन की किसी दिखावटी (कलात्मक) अभिव्यक्ति की गुंजाइश नहीं रह गयी है। अब लुके-छिपे स्टील्थ बमवर्षकों और मिसाइलों का युग आ गया है जब वायुयान अदृश्य रह कर, या पनडुब्बियाँ पानी के भीतर से ख़तरे से अनजान नागरिकों पर आसमान से परमाणु बम गिराकर पूरे नगरों को नर-नारी, बूढ़ों-बच्चों समेत एक साथ नष्ट कर सकते हैं। असली अर्थ में यही अप-संस्कृति है जिसमें जीवन के लिए प्रकृतिजन्य सहज प्रवृत्ति का विस्तार नहीं है बल्कि इसके विपरीत सीमाहीन अहम् और उन्माद आदमी को निर्वैयक्तिक नर-संहार और सर्वनाश के लिए प्रेरित करता है। दरअसल ये प्रवृत्तियाँ संस्कृति का आत्यंतिक निषेध है जिसको एक शब्द में 'निहिलिज्म' ही कह सकते हैं।[1]

---

1. उन्नीसवीं शताब्दी के आख़िरी दौर और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक काल में एक दर्शन जो यूरोप में विकसित हुआ और रूस में अपने को क्रान्तिकारी कहने वाले कुछ हिंसक समूहों ने अपनाया। इसमें आदमी के कामों और व्यवहारों पर किसी तरह के धार्मिक अथवा अन्य नैतिक बंधनों को नकारा गया। नीत्शे एवं दॉस्तोवस्की जैसे साहित्यकारों और दार्शनिकों के लेखन से भी इस सोच को बल मिला।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ऊपर के संक्षिप्त विषयांतर के बाद हम यहाँ पुनः शिशुओं की प्रथम चित्र निर्माण की प्रक्रिया पर विचार करेंगे। चिंपैंजी मानव सरीखी दिखने वाली अपनी सारी क्षमताओं के बावजूद अगर चित्र बनाने की दिशा में कोई प्रगति नहीं कर पाता तो इसका ख़ास कारण यह जान पड़ता है कि मनुष्य की तुलना में चिंपैंजी की अवधारणात्मक (कन्सेप्चुअल) क्षमता अत्यंत ही क्षीण है। यह क्षमता किसी ग़ैरहाज़िर वस्तु या व्यक्ति की छवि (इमेज या मेमोरी ट्रेसेज) को कुछ काल तक धारण करने की क्षमता है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, यह छवि इतनी स्पष्ट तो नहीं होती कि उसे आदमी उसकी सर्वांगीणता में प्रस्तुत कर सके लेकिन उपयुक्त संकेत (क्यू)—जैसे प्रतीक या चिह्न के आधार पर उसकी पहचान कर सकता है या उसे अर्थ दे सकता है। संकेत से अर्थ तक पहुँचने की यह क्षमता ही कला तथा अन्य सर्जनात्मक अभिव्यक्ति का आधार होती है। मनोविज्ञान में इसी प्रक्रिया का एक रूप 'क्लोजर' यानी अधूरे आकार को पूर्णता प्रदान करने का गुण है। प्रयोगों से पाया गया है कि अगर एक सीधी रेखा या परिचित चित्र का कुछ अंश मिटा दिया जाय या ढक दिया जाय तो भी वह आदमी जो उस रेखा या चित्र से परिचित है उस रेखा या चित्र को उसकी पूर्णता में देखेगा। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि उसके दिमाग में उस पूरी रेखा या चित्र की छवि मौजूद है। लेकिन वह इस रेखा या चित्र को पूरा तभी करेगा जब उनका कुछ संकेत मौजूद हो। इस गुण का भरपूर प्रयोग रेखाकारों ने या उन कलाकारों ने किया है जो वस्तुओं के हूबहू जैसे लगने वाले चित्र (त्रौं-द-एल) बनाते हैं। इसी मनोवैज्ञानिक कारण से हम एक सपाट चित्र फलक पर तीन आयामी और पीछे दूर क्षितिज तक फैले दृश्य का अनुभव करते हैं। होता यह है कि कलात्मक क्यू (कूट संकेत, जो एक माध्यम की वस्तु या आकार का दूसरे माध्यम में प्रतिनिधित्व करते हैं) या कोड के कारण हमारी अपनी याददाश्त में अस्फुट पड़ा दृश्य चित्र में मूर्तिमान हो उठता है। यूरोप के रिनेसां काल की पूरी कला परंपरा ऐसे कोडों के विकास में लगी रही जिससे चित्र देख कर लोगों में यह भ्रम पैदा हो कि वे असलियत को देख रहे हैं। ऐसे क्यू या कोड कला निर्माण के लिए भी अति आवश्यक हैं। अनेक कलाकारों ने यह अनुभव व्यक्त किया है कि चित्र बनाने के पहले जब उनके सामने सादा कागज या कैनवस होता है तो वे एक अनिश्चय की स्थिति में होते हैं। जब वे कूंची या पेंसिल से पहला निशान बना देते हैं तो उसके बाद ही आगे क्या करना है उन्हें दिखाई देता है और जैसे-जैसे चित्र की प्रगति होती जाती है वैसे-वैसे वह कैसे समाप्त होगा यह अधिक स्पष्ट होता जाता है। इसमें कैनवस पर बनाये गये चिह्न मन में अंकित छवि को, जो अवचेतन में छिपी होती है, उघाड़ कर चेतन के सामने स्पष्टता के साथ लाने का काम करते हैं। यह आवश्यक नहीं कि यह छवि किसी वस्तु का प्रतिनिधि-चित्र हो। यह शुद्ध रूप से भावनात्मक अभिव्यक्ति भी हो सकती है।

अब ऊपर की बातों के आलोक में हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि हमारी प्रजाति के शैशवकाल में कला का विकास कैसे हुआ होगा। जैसा कि पहले ही कहा गया है। कला के लिए कला की बात तो बिल्कुल हाल की धारणा है। आदि पाषाण युग में जब आदमी चकमक-पत्थर के या हड्डियों के हथियारों से शिकार कर जीता था, कला

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का उन्मेष इन हथियारों के निर्माण के साथ ही हुआ होगा। प्राचीन पत्थरों और हाथी दांत के हथियारों को देखने से कलात्मकता के दो रूप दिखाई देते हैं—बनावट में आकार के स्तर पर कलात्मकता और फिर औजारों पर मानव एवं पशुओं की अनुकृति अंकित करने की कलात्मकता। पत्थर को काटने लायक तेज धार देने की प्रक्रिया में पैदा विलक्षण सममिति और बनावट की सुन्दरता इन हथियारों की काटने की उपयोगिता की दृष्टि से बेज़रूरत लगेगी। यहाँ मनुष्य में अन्तर्निहित सौंदर्य-बोध एक नीरस उपयोगिता की वस्तु में—जिसका काम या तो शिकार में पशुओं को मारने का था या उनके चमड़े या माँस को काटने का—रूपाकार ला देता है। यह बात दीगर है कि हस्त परस और भाले की सममिति सौंदर्य के साथ-साथ इन हथियारों की उपयोगिता भी बढ़ा देती है। यह कलात्मकता को विशेष प्रोत्साहन देने वाला साबित होता है। इन औजारों के संतुलन और सममिति में लगातार विकास होता गया। आज से लगभग चार लाख वर्ष पहले के एच्युलियन हस्त परस से लेकर औरिग्रेशियन और सौलुट्रियन होते हुए पन्द्रह हजार वर्ष पहले के मैग्डेलेनियन काल तक औजारों में इस तरह के सुधार लगातार होते रहे। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि ये सब सुधार एक परंपरा के तहत हुए। इस तरह के पत्थर के औजार एक-दूसरे से अति दूर और विशाल कालखण्डों के अंतराल पर पाये गये हैं। अतः इनके आपसी संपर्क की संभावना नहीं लगती। लेकिन इससे यह ज़रूर लगता है कि आदमी की आकारों में आनन्द (सौंदर्य) ढूँढ़ने की प्रवृत्ति हमेशा जो दिखाई देती है, उसे कल्पना में उपस्थित छवि के आलोक में पूर्णता प्रदान करने की रही है। जहाँ किसी संस्कृति में निरंतरता रही है यह सुधार एक परंपरा के तहत तेजी से हुआ है। जहाँ संस्कृति की ऐसी निरंतरता नहीं रही लोगों ने बार-बार नये सिरे से अपने औजारों को अधिक सुरुचिपूर्ण बनाया। चूँकि लाखों वर्ष की अपनी यायावरी में मानव समूह एक-दूसरे से कटते गये, कुछ आगे बढ़े, कुछ जहाँ के तहाँ स्थित रहे और कुछ विनष्ट हो गये, इनकी संस्कृति में समरसता दिखायी पड़ना संभव नहीं था—उन बिंदुओं को छोड़ कर जहाँ कुछ अन्तर्भूत कलात्मक प्रवृत्तियाँ स्वतःस्फूर्त रूप से वस्तुओं और कलाओं में समान तत्त्वों का समावेश कर देती थी।

इसी क्रम में अनुकृतियों के निर्माण की दिशा में एक छलाँग आज से तीस हज़ार वर्ष पूर्व से पाये गये चित्रों और मूर्तियों में दिखायी पड़ती है। इस काल के बाद से गुफ़ाओं की दीवारों पर और अन्यत्र ऐसे उत्कीर्ण रिलीफ, रंगे गये चित्र और प्रतीकात्मक आकार पाये जाते हैं जो अपनी कलात्मक अभिव्यक्ति में आधुनिक काल की कलाओं से हीन नहीं कहे जा सकते (चित्र ४)। इसका कारण समझना आसान है। हथियारों में सुधार से जीवन का संघर्ष कुछ कम हो गया। लोगों को वस्तुओं को ध्यान से देखने और प्रयोग के लिए उन से छेड़-छाड़ करने का अवकाश अधिक मिलने लगा। इस प्रयास में बनती-उभरती रेखाएं और ऊबड़-खाबड़ सतहों में उन्हें अवचेतन में पड़ी छवियों की झाँकियाँ दिखाई देने लगी होंगी जैसी हमें दीवारों पर उभरी रेखाओं और धब्बों में अक्सर दिखायी देती हैं। गुफ़ाओं की दीवारों पर उत्कीर्ण कुछ आकृतियाँ स्वाभाविक रूप से उभरे चिह्नों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

से प्राप्त संकेतों से इन धब्बों द्वारा सुझाये गये रूपों को पूरा करके बनायी गयी होंगी, ऐसा अनुमान होता है। और एक बार ऐसे चित्र के बन जाने पर इनमें प्रयुक्त कोडों की परंपरा बनी होगी। फिर तो रिलीफ उत्कीर्ण करने या चित्र बनाने की कला में उत्तरोत्तर सुधार हुआ होगा। चित्र बनाने में दक्षता हासिल करने के बाद इसका प्रचलित धार्मिक अनुष्ठानों एवं शिकार के अवसरों से जुड़ाव हुआ होगा और इस पारस्परिकता से चित्रकला में वैसी प्रतीकात्मकता का समावेश हुआ होगा जो उनकी संस्कृति में धार्मिक विश्वासों के साथ जुड़ी होंगी। चित्रकारी शिकार के अनुष्ठानों एवं आदमी के जन्म-मरण के कर्मकांडों से जुड़ी होगी और इससे इसकी विषय-वस्तु और स्वरूप दोनों में बदलाव आया होगा। जब अनुकृतियाँ बनाने में दक्षता हासिल हुई होगी तब इनका निर्माण शुद्ध रूप से सृजन के सुख के लिए होने लगा होगा। प्राचीनकाल के विशाल हाथियों (मैमथ) के दांतों पर और बारहसींगों के सींग पर तरह-तरह के पशुओं की उत्कीर्ण तस्वीरें कला के विकास के इसी दौर के परिणाम मालूम होती हैं। उसके बाद से हज़ारों वर्ष से आज तक आदमी अपने औजारों, हथियारों, रहने के स्थानों आदि सभी को विभिन्न वस्तुओं और जीवों की अनुकृतियों से सजाता रहा है। लेकिन एक आधारभूत स्तर पर इनका मनुष्य के जीवन के लिए आनंद के अलावा भी एक अवदान रहा है। ये कलाकृतियाँ अपनी संप्रेषणीयता से समूह को प्रशिक्षित करने के अलावा इसे भावनात्मक स्तर पर जोड़ने का काम करती रही हैं। चूँकि इनका विकास छोटे या बड़े समाज के सामूहिक प्रयासों और उपलब्धियों से जुड़ा होता है, कलाकार और कला-द्रष्टा दोनों ही कलाकृति के माध्यम से पूरे समाज की भावना से जुड़ जाते हैं—कहीं यह सामाजिक बंधन धार्मिक विश्वासों का होता है, कहीं प्रचलित रीति-रिवाजों का तो कहीं कबीले की महत्ता की भावना और कबीले के प्रति वफ़ादारी का। आधुनिक काल में कला के शुद्ध रूप से विपणन की वस्तु बन जाने से इसमें निहित सामाजिक लगाव का ह्रास होता जा रहा है। चूँकि यह सामाजिक चेतना या भावना से कटती जा रही है, बाजार में इसका मूल्य चाहे जितना भी बढ़ा हो, आम-आदमी ऐसी कला से विरत होता जा रहा है। आदमी की अंतरंग भावनाएँ उसे अपने छोटे परिवेश से ही जोड़ती हैं जिसमें वह हर पल जीता है। इसीलिए कला का जागतिक बाजार तो हो सकता है लेकिन जागतिक भावनात्मक आधार नहीं। क्योंकि मिट्टी, धरती, आसमान और पेड़-पत्तों के रंग और गंध, अपनी भाषा का विशिष्ट बोध तथा लय, प्रचलित रीति-रिवाज जिनके माध्यम से वह अपनी भावना की अभिव्यक्ति खोजता है, सब मिलकर अपने आप में एक संपूर्ण-भावलोक का निर्माण करते हैं जिससे कलाकार अपने को ठीक वैसे ही बाहर नहीं कर सकता जैसे अपने शरीर को चमड़ी से। यही बात कलाभोक्ता के साथ भी लागू है। उसका भावलोक भी परिवेश से आकार ग्रहण करता है। वह भी अपने परिवेश से बंधा है और इसी परिवेश की भाषा में उसकी अभिव्यक्ति को ग्रहण कर सकता है। बाहर से आने वाला कोई प्रभाव कलाकार के लिए सार्थक अभिव्यक्ति का माध्यम तभी बन सकता है जब लम्बी अवधि में वह उसके परिवेश की मिट्टी-पानी में सनकर खाद की तरह कला पोषण के लिए जज्बा बन जाय। यह असंभव नहीं है क्योंकि दुनिया के सभी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

मनुष्य एक प्रजाति के हैं और इसलिए उनके आपसी संप्रेषण पर कोई अलंघ्य बाधा नहीं है। प्राचीन काल से कला-बोध का ऐसा विस्तार भी होता रहा है। लेकिन यह सब धीरे-धीरे एक लम्बी प्रक्रिया से ही संभव है, अचानक बाहर से थोपा नहीं जा सकता।

चित्र 8

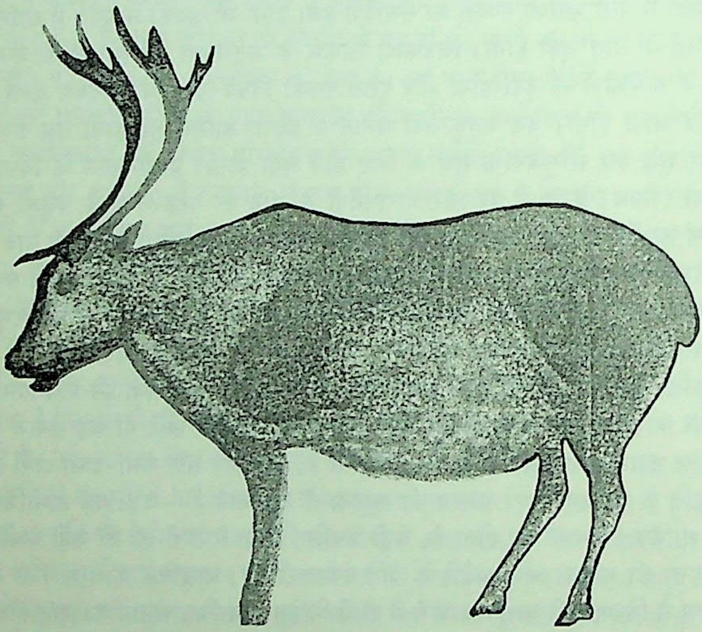

फौं द गोम फ्रांस में मैग्डालिनियन काल का रेनडीयर का एक बहुरंगी चित्र।

संगीत अमूर्त कला का सब से शुद्ध रूप है। इसीलिए अनेक चित्रकार और मूर्तिकार भी संगीत जैसी शुद्ध अभिव्यक्ति को अपना आदर्श मानते हैं। भाषा की तरह संगीत भी ध्वनि पर निर्भर है इसलिए शायद यह संप्रेषण का सबसे प्रारंभिक माध्यम रहा होगा। पक्षियों के संगीत की तर्ज पर मनुष्य की आवाज भी प्रारंभ में विविध स्थितियों के लिए अपने उतार-चढ़ाव से भय, प्रेम, आकर्षण, विकर्षण आदि भावनाओं का संप्रेषण करती होगी, भाषा के विकास के पहले। चूँकि ऐसे ध्वनि-संकेतों में भावना की बहुलता रही होगी, इन्हीं में संगीत के विकास के बीज रहे होंगे। ध्वनि से भाषा के विकास ने संप्रेषणीयता की एक-दूसरी राह पकड़ी जिसका विस्तार से वर्णन तीसरे अध्याय में हो चुका है। भाषा के माध्यम से ठोस वस्तुपरक और तर्कसंगत सूचनाओं का संप्रेषण अत्यधिक क्षमता से होता है। लेकिन आदमी की आवाज में बहुत कुछ है जो ठोस सूचनाओं से परे जा सीधा भावनाओं के स्तर पर संप्रेषण करता है। इसीलिए बातचीत में आवाज के उतार-चढ़ाव के साथ शब्दों के अर्थ भी बदल जाते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

टेलीफोन इंजीनियरों ने प्रयोग करके दिखलाया है कि बोली के नॉरमल बैंडों (यानी 10 और 10,000 साइकिल प्रति सेकेन्ड) को अगर दस संकीर्ण दरवाजों (गेटों) से 'वौकोडर' नामक यंत्र से गुजारा जाय जिनमें प्रत्येक दरवाजा 32 साइकिल चौड़ा हो तो बातों का सार तो मिल जायेगा लेकिन फोन करने वाले का व्यक्तित्व और भाव लुप्त हो जायेंगे। इसके उलटा संगीत आवाज के उन बैंडों की क्षमताओं का प्रयोग करता है जिन्हें निश्चयात्मक सूचना की दृष्टि से अनावश्यक माना जा सकता है। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध में प्रत्यक्ष अनुभव और तर्क को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानने वाले लौजिकल पोजेटिविस्ट कहे जाने वाले दार्शनिकों ने विज्ञान के लिए भाषा को एक ख़ास रूप में बांधा, इसी तरह—उनकी दृष्टि में गुमराह करने वाली भावनाओं और अवधारणाओं से मुक्त करने की कोशिश की थी। लेकिन लोगों की भावनात्मक आवश्यकता इतनी जबरदस्त है कि इससे न तो लोगों की बातचीत की भाषा बदली न संगीत का आकर्षण कम हुआ। हाँ, उनकी तार्किक भाषा का उपयोग कम्प्यूटर की भाषा के निर्माण में ज़रूर हुआ।

मनुष्य की आंतरिक भावनाओं को स्वतःस्फूर्त अभिव्यक्ति देने वाले संगीत और नृत्य मानव समाज में आदिकाल से ही एक-दूसरे से जुड़े रहे होंगे, यह कुछ विश्वास से कहा जा सकता है। मोर, कबूतर एवं फाख्ता जैसे पक्षियों में ध्वनि के साथ या अकेले भाव-भंगिमाओं या नृत्य से संप्रेषण के प्रयास आमतौर से देखने में आते हैं। फाख्ता की आवाज तो दूर-दूर तक संगीत की टेर की तरह सुनी जा सकती है और जिस तरह यह देर-देर तक जारी रहती है इसका उद्देश्य अभिव्यक्ति का आनन्द ही मालूम पड़ता है। इन पक्षियों की तरह मनुष्य में भी भाव-भंगिमा और आवाज संप्रेषण के ये दोनों ही माध्यम उपलब्ध हैं और इनका मिला-जुला व्यवहार संगीत और नृत्य की मिली-जुली अभिव्यक्ति में हर तरफ़ दिखाई देता है। दोनों ही में लयबद्धता है जिसका आकर्षण मनुष्य के लिए स्वाभाविक है क्योंकि मनुष्य के जीवन का आधार ही लयबद्ध स्पंदन है—आदमी की हृदय की गति, श्वास का चलना और दिन-रात का जीवनवृत्त सभी लयबद्ध हैं। चूँकि संगीत और नृत्य भाव प्रधान हैं मनुष्य इनके माध्यम से जीवन की उदात्त भावनाओं, हर्ष और विषाद एवं मन पर ऋतुओं और दिन की विविध घड़ियों के प्रभाव सभी को अभिव्यक्ति देता रहा है। भारत में तो संगीत के रागों एवं रागिनियों को विविध ऋतुओं और दिन की घड़ियों के साथ जोड़ने की लम्बी परंपरा रही है। भारत की सभी नृत्य परंपराओं में संगीत को जोड़ा गया है—चाहे वह अत्यंत ही उन्नत और जटिल शास्त्रीय संगीत पर आधारित कथक नृत्य हो चाहे लोकसंगीत की परंपरा पर रासलीला या आदिवासी समूहों के लोकनृत्य हों। पश्चिमी देशों के भी नृत्य किसी न किसी संगीत की तर्ज पर ही होते हैं। यही बात अफ्रीका के पारंपरिक नृत्यों के साथ भी लागू है। नृत्य और संगीत का यह सार्विक सहयोग आदमी की सहज प्रवृत्ति की ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति लगती है। पारंपरिक कथाओं की भावोत्प्रेरक घटनाएँ, मनुष्य के ऊपर की कल्पित दैवी शक्तियों की वंदना, अपने समूह की गुणगाथा आदि सभी का इसमें प्रतीकात्मक रूप से समावेश हो सकता है। भारत में तो अति प्राचीनकाल से शरीर के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

सभी अंग-प्रत्यंगों की सांकेतिक भाषा को एक संपूर्ण शास्त्र के रूप में विकसित किया गया था जो आज भी यहाँ की विविध नृत्य परंपराओं में जीवित है। यह आंगिक भाषा संसार के सभी मनुष्यों में अलग-अलग रूप में उपस्थित है क्योंकि आवाज की भाषा के बहुत पहले संप्रेषण का यही माध्यम मनुष्यों और पशुओं, सभी को उपलब्ध था, और आज भी उपलब्ध है। यह सहज प्रकृति से आता है, प्रशिक्षण से विकसित हो निश्चित आकार ग्रहण करता है और सांस्कृतिक परंपरा द्वारा पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवर्धित हो हस्तांतरित होता रहता है। अपनी आवश्यकता के अनुसार नयी पीढ़ियाँ इसमें परिवर्तन और परिवर्धन करती रहती हैं। नृत्य की आंगिक अभिव्यक्ति के समानान्तर कविता का विकास भाषा के माध्यम से भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए होने लगा। इसमें उत्तरोत्तर भाषा के अर्थ से परे जा सीधा भावना को अपील करने का रुझान था। इसलिए कविता सदा भाषा का सीमांत प्रदेश रही है जिसमें आकांक्षा संगीत की तर्ज पर सीधे भावना को अपील करने की रही है। संप्रेषण भाव और अर्थ के बीच झूलता रहा है।

एक संप्रेषण माध्यम, जिससे उचित और निषिद्ध का बोध एवं परिवेश का अनुभव से अर्जित ज्ञान मनुष्य अपने वंशजों को अत्यधिक क्षमता से दे सकता है, और जो अधिक से अधिक विकसित चिंपैंजी जैसे दूसरे स्तनपायी जीव में भी नहीं है, वह है कथा और मिथकों के सहारे संप्रेषण। सांस्कृतिक विकास का यह एक ऐसा आयाम है जो मानव व्यवहारों को अन्य पशुओं के व्यवहारों से बिल्कुल अलग करता है। इसका विकास मनुष्य की अवधारणात्मक क्षमता और भाषा के विकास के साथ जुड़ा हुआ है। भाषा का विकास कब हुआ यह अज्ञात है और शायद निश्चित रूप से कभी भी नहीं जाना जा सकता, क्योंकि औजारों अथवा चित्रों और मूर्तियों की तरह किसी ठोस वस्तु में इसका स्मृति-चिह्न सुरक्षित नहीं रहता, लिपि और लिखावट के पहले। इसका आविर्भाव जब भी हुआ हो यह सहज प्रवृत्ति के बंधन से संस्कृति के दायरे में प्रवेश की दिशा में मनुष्य की सबसे बड़ी छलाँग थी। यह काफ़ी हद तक आदमी को अपने आनुवंशिकी के बंधन से मुक्त करती है। भाषा और अवधारणात्मक शक्ति से कल्पना के स्तर पर मनुष्य मनचाहे संसार का सृजन कर सकता है, और इस संसार की झाँकी को संप्रेषित भी कर सकता है। भाषा के माध्यम से वह सब, जो दृश्य जगत् में अनहोना लगता है, अवधारणात्मक धरातल पर संभव दिखाई देने लगता है। उदाहरण के लिए हम इन पंक्तियों पर विचार करें :

'चंदा मामा नाव चलाते आसमान के नीलम सर में
लल्लन उस में तैर पहुँचता मामा के चांदी के घर में'

इन पंक्तियों से हम एक स्पष्ट स्थिति की कल्पना कर सकते हैं और उसका आस्वादन भी कर सकते हैं हालाँकि इन पंक्तियों में व्यवहार किये गये पदों का वास्तविक संसार से कोई रिश्ता नहीं है। न तो चंदा मामा है और न आसमान कोई नीलम सर जिसमें कोई लल्लन तैर सके। लेकिन भाषा की अवधारणात्मक शक्ति और इसकी व्याकरणीय बनावट के कारण असम्भव से असम्भव स्थिति का विश्वसनीय

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

विवरण भाषा के माध्यम से दिया जा सकता है। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह एक विश्वसनीय कल्पनालोक का निर्माण करता है। व्याकरणीय दृष्टि से 'किरण के तारों को लपेट कर बांध दो' बिल्कुल सही वाक्य होगा और इससे किसी तरह की क्रिया के होने का आभास भी मिलता है। लेकिन हकीकत से इसका कोई रिश्ता नहीं हो सकता, क्योंकि किरण का तार लोहे या तांबे के तार जैसी कोई लचीली वस्तु नहीं हो सकता। भाषा की इस शक्ति को पाने के बाद से आदमी ने प्रकृति की अदृश्य शक्तियों को समझने के लिए और उनके साथ अपना रिश्ता कायम करने के लिए मिथकों का निर्माण करना शुरू किया। अब अनेक रूप के देव-दानव मानव निर्मित मिथकीय संसार के वासी बन गये। कहीं हाथी के मस्तक वाले गणेश तो कहीं बाज के मुख वाले होरस और कहीं वृषभ-मुख मनुष्य-माँसभक्षी मिनोटार जैसी उपस्थितियाँ विभिन्न मानव समूहों के कल्पनालोक को आबाद करने लगीं। अवधारणायुक्त मानव के लिए उससे इतर जीव, वृक्ष, नदी, पर्वत और धरती आदि केवल सामने पड़ने के क्षण में ही प्रकट नहीं रहे। सोते-जागते आँख-कान बंद करने पर भी अब ये अपने आप में अस्तित्व में रहने लगे। इसलिए इनके साथ स्थायी संबंध कायम करना ज़रूरी था। ऐसे संबंध के लिए उनकी हैसियत आंकना और मनुष्य के जीवन पर उनका स्थायी प्रभाव कैसा होता है, यह जानना ज़रूरी था। पिछले अध्याय (परिवेश का बंधन) में इस पर कुछ विचार किया गया था। विज्ञान के विकास के पहले इन सब को मनुष्य जैसा ही सुख, दुःख, मित्रता, शत्रुता आदि भावों से युक्त माना जाता था, अतः इनके साथ भावनात्मक संबंध कायम किया जा सकता था। मिथकों की दुनिया यही काम करती थी। इसमें आदमी, देवता, नदी, पर्वत सभी एक कथानक के भीतर अपनी भूमिका निभाते थे। मिथकों में सभी पात्रों की भूमिका एवं घटनाक्रम सुनिश्चित होते थे। इनमें किसी तरह का उलट-फेर अटल दैवी विधान में व्यवधान जैसा लगता था। इसीलिए सभी मिथकों की घटनाओं के क्रम और इनसे जुड़े धार्मिक कर्मकाण्डों के क्रम अपरिवर्तनीय माने जाते थे। पुरोहितों की मंडलियाँ बनने लगीं जो अपने शिष्यों के माध्यम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी इनकी अपरिवर्तनीयता को बनाये रखने का काम करती रहीं। दिलचस्प बात यह है कि परिवेश और काम-धाम में अनिश्चितता के भय से निश्चितता की तलाश का आंतरिक दबाव इतना जबरदस्त होता है कि यह पक्षियों के कार्यकलापों जैसे घोंसला बनाने के क्रम,[1] मिथकों के घटनाक्रम और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के तहत भौतिक घटनाओं के कारण-कार्य संबंध सभी में निश्चयात्मक एकरूपता की तरफ़ ले जाता है। यहाँ एक बार फिर सहज प्रवृत्ति और संस्कृति के बीच निरंतरता दिखाई देती है।

मिथकों में परिवेश के गुण, मानव संबंध और उचित-अनुचित का मूल्यबोध सभी एक कथानक में पिरोये गये होते हैं। इससे मिथकों को याद रखने से उनके विविध पहलुओं को ध्यान में रखना आसान हो जाता है। इस तरह मिथकों के द्वारा न सिर्फ़

1. पक्षी घोंसला बनाने में तिनका जुटाने से लेकर उन्हें एक से एक जोड़ने का सारा काम एक निश्चित और अपरिवर्तनीय क्रम में करते हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लोगों की अपने परिवेश के साथ संगति बैठती है बल्कि लोगों को अपने कार्यों में भी मर्यादित किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि मिथकों के आदर्श व्यक्तियों के आचरण के उदाहरणों में विशेष तरह के व्यवहार का निर्देश भी निहित होता है। जैसे-जैसे आदमी का नियंत्रण प्राकृतिक शक्तियों पर बढ़ता गया वैसे-वैसे लोगों की रुचि दैवी शक्तियों के बजाय मानव समूहों और विशेषकर अपने समूह की गुणगाथा की ओर बढ़ी। यह वास्तव में मनुष्य में स्वयं अपने बारे में जानने और अपने को गौरवान्वित करने की इच्छा की अभिव्यक्ति थी। अपने इस गुण में शायद मनुष्य सभी प्रजातियों में अकेला है। बिना सोचे-समझे अपनी इच्छा की पूर्ति या शक्ति-प्रदर्शन की इच्छा तो अनेक जीवों में है लेकिन अवधारणात्मक क्षमता से युक्त मनुष्य ही अपने आप के मूल्यांकन के लिए सक्षम होता है। लेकिन इस मूल्यांकन में अपनी महत्ता को बढ़ा-चढ़ा कर देखने की स्वाभाविक पाशविक प्रवृत्ति भी जुड़ी रहती है।

आदिम समाजों में मनुष्य अपना व्यक्तिगत अस्तित्व अपने कबीले या कुटुंबियों से अलग करके नहीं देखता था। अतः ख़ुद को गौरवान्वित करके देखने का साधन कबीले को गरिमामंडित करना ही हो सकता था। आज भी बड़ी संख्या में आदमी अपनी जाति, अपने धर्म, अपने देश आदि को गरिमामंडित कर स्वयं गौरवान्वित महसूस करता है। इससे मिथकों के बाद मनुष्य की सामूहिक अभिव्यक्ति का माध्यम महाकाव्य बने। महाभारत, रामायण, इलियड, एनियाड आदि महाकाव्यों के रचनाकाल मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के ऐसे ही बिन्दु थे। अब मानव समूहों की गाथा कला का रूप धारण करने लगी। इसमें मनुष्य महाकाव्यों के पात्रों से अपने को एकाकार कर उनके सुख-दुःख के साथ तादात्म्य स्थापित करता था। इसी के साथ कला विधाओं में, जिसे ह्यूमन इन्टेरेस्ट कहते हैं, पैदा हुआ। इसमें चिह्नित व्यक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित कर सुख-दुःख अनुभव करने की प्रवृत्ति थी जो आज साहित्य से लेकर पत्रकारिता तक में अपना विशेष स्थान रखती है।

ऐसे कथा-साहित्य के जन्म के बाद इस प्रक्रिया की तार्किक परिणति के रूप में नाटकों की शुरूआत हुई होगी जिनमें चर्चित घटनाएँ नाटक के पात्रों द्वारा रंगमंच पर मंचित की जाने लगीं। इनमें काव्यों में वर्णित घटनाओं के प्रत्यक्ष प्रदर्शन के कारण लोगों को रंजित करने की सबसे अधिक क्षमता थी। यूनान और भारत में इस कला विधा के प्रारम्भ के संबंध में निश्चित जानकारी है। संभवतः अन्यत्र भी किसी रूप में रंगकर्म रहे होंगे। यूनान में इसकी शुरूआत ईसा पूर्व प्रथम सहस्राब्दी के पूर्वार्द्ध में हुई थी। प्रारम्भ में यह वहाँ मदिरा और उल्लास के देवता डायनिसस के त्योहार के रूप में शुरू हुआ। इसमें बकरे के रूप में डायनिसस की बलि, उसका भक्षण और फिर उस पर विलाप होता था। इस विलाप में सवाल-जवाब करने वाले पात्र जुड़ते गये और फिर इसने एक रंगमंच का रूप ग्रहण कर लिया। ईसा पूर्व पांचवीं शताब्दी से ऐस्चुलस के आगमन के बाद इसने पूरी तरह एक नाटक का रूप ग्रहण कर लिया। प्रारम्भ में नाटकों के कथानक के रूप में होमर के महाकाव्य उपलब्ध थे, जिनकी घटनाओं से यूनान के नागरिक पहले ही पूरी तरह परिचित हो चुके थे। शुरू के दिनों में दर्शक पहाड़ियों की ढलान का इस्तेमाल गैलरी की

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
तरह करते थे और सामने नीचे समतल जमीन पर खुले मैदान में नाटक का मंचन होता था। चूँकि दर्शकों की दूरी काफ़ी होती थी, लोग भावों को समझ सकें इसके लिए भावों की अभिव्यक्ति के लिए मुखौटों का इस्तेमाल होता था।

भारत में रंगमंच के ऐसे क्रमिक विकास की कोई जानकारी नहीं मिलती और ईसा पूर्व पहली शताब्दी में अचानक एक अत्यंत ही विकसित रूप में भरत के नाट्यशास्त्र में नाट्यकला का विवेचन मिलता है। इससे कम से कम दो शताब्दी पहले भारत का यूनान के साथ घनिष्ठ संपर्क हो चुका था और नाट्य मंच के पर्दे के लिए 'यवनिका' शब्द का प्रयोग नाट्यशास्त्र में आता है। चूँकि यवन शब्द यूनान के लोगों के लिए होता था इससे यह संभव लगता है कि भारत में रंगमंच की शुरूआत यूनान के संपर्क से ही हुई हो। यह ज़रूर है कि भारत के रंगमंच का विकास बिल्कुल मौलिक रूप से हुआ और भरत ने भारतीय बौद्धिक परंपरा के अनुसार ही अत्यंत ही विश्लेषणात्मक ढंग से विस्तार के साथ रंगमंच के सभी पहलुओं और संबद्ध कलाओं पर प्रकाश डाला है। भरत ने नाट्य मंडप एवं प्रेक्षागृह आदि का जो वर्णन दिया है वह प्राचीनकाल में भारतीय रंगमंच की विशेषता लगती है। इसके अलावा मुखौटों के प्रयोग के बजाय इसमें भाव-भंगिमाओं का अत्यंत ही सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन है जो निश्चित रूप से यहाँ की अत्यधिक विकसित नृत्यकला की मुद्राओं पर आधारित लगता है। भारत में रंगमंच पर पूरी सजधज के साथ मुखौटों का प्रयोग सिर्फ़ केरल के कथकली नृत्य में होता है जिसमें मुखौटों के साथ आंगिक भाव भंगिमाओं को भी जोड़ा जाता है। भरत द्वारा नाट्यशास्त्र का विशद शास्त्रीय विवेचन भारतीय गणितज्ञों, न्याय-शास्त्रकारों एवं वैयाकरणों की उस समय की समृद्ध परंपरा के समानांतर सौंदर्यशास्त्र को भारतीय योगदान लगता है। लेकिन इसमें सभी भावों और पात्रों का उनके वर्ण, लिंग एवं पद आदि के हिसाब से इतना विस्तृत वर्णन है और प्रस्तुति संबंधी इतने ब्योरेवार आदेश हैं कि बाद के नटों के लिए यह बहुत बड़ा बंधन साबित हुआ होगा और समय के साथ नये तत्त्वों को शामिल करना कठिन हो गया होगा। शायद इसीलिए संस्कृत भाषा की तरह ही यह लोक-जीवन से कटता गया और आम लोगों ने लोकनाटक की अलग विधाएँ देश के विभिन्न भागों में विकसित कीं।

भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रभाव में बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ-साथ एशिया के कई दूसरे भागों में भी नाट्यकला का विकास हुआ।

भरत ने नाट्य में वाचिक को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। इससे स्पष्ट है कि नाटक का मुख्य उद्देश्य जैसा कि ऊपर कहा गया है मिथकों, महाकाव्यों तथा अन्य कथाओं को दृश्य रूप देना ही रहा होगा जिसमें नट-नटी अपनी भाव-भंगिमाओं एवं वक्तव्यों से असली घटनाओं के घटित होने का भ्रम प्रेक्षकों में पैदा कर सकें। आज का सिनेमा भी इसी उद्देश्य को पूरा करने की कोशिश करता है।

अब प्रश्न उठता है कि मानव प्रजाति में जो अनेक कला विधाओं का विकास हुआ उसे हम जीव जगत् के आनुवंशिकी प्रदत्त सहज प्रवृत्ति के किन रुझानों का विस्तार मानेंगे। यहाँ आकर मानव प्रजाति में एक 'ट्रांसेन्डेन्स' (पारगमन) की प्रक्रिया दिखायी

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

देती है—यानी मनुष्य के व्यवहार सीधे या शुद्ध रूप से जीवन की ठेठ आवश्यकताओं से परे जा एक आनंददायक भावलोक का निर्माण करते हैं जो जीवन से समानांतर दिखायी देता है। लेकिन इस सृजन को आनुवंशिकी की विरासत से बिल्कुल काट कर भी नहीं देखा जा सकता। इसका संबंध जीवों और विशेषकर स्तनपायी जीवों में जीवन के कार्यकलाप की न्यूनतम आवश्यकताओं से आगे बढ़ सतत कार्यशील रहने की प्रवृत्ति से है। यह उन्हें लगातार अपने परिवेश को परीक्षित करने और उसके साथ प्रयोगात्मक छेड़छाड़ करने को प्रेरित करती रहती है। परिवेश से परिचित होना जैसा कि हम पहले देख चुके हैं उनके जीवन की आवश्यकता है। लेकिन जहाँ यह आवश्यकता नहीं भी है यह तलाशने की प्रक्रिया जारी रहती है। अगर जीवन के लिए कुछ खोजने या जानने की ज़रूरत न भी हो तब भी उसकी सक्रियता कायम रहती है। स्लौथ (दक्षिण अमेरिका का लम्बे बालों, मुड़े हुए लम्बे पंजों वाला स्तनपायी जानवर जिसकी गति बहुत धीमी होती है) या अजगर जैसे बहुत कम जीव हैं जो अपना अधिकांश समय निश्चेष्ट एक जगह पड़े बिताने में कोई बेचैनी नहीं महसूस करते।

अधिकांश पशु-पक्षियों के लिए सतत सक्रिय रहना सुखकर होता है। चिड़ियाघरों के पशु-पक्षी जिन्हें उनके परिवेश से अलग कर बंधन में रखा गया होता है इस स्थिति से बेचैन रहते हैं और उनमें अनेक के व्यवहार में विविध तरह की विकृतियाँ पायी गयी हैं। सर्वाधिक प्रयोगधर्मी जीव मनुष्यों के लिए तो क्रियाशीलता से कटा बंधन भरा जीवन और भी दुःखदायी होता है। क़ैद की ज़िन्दगी और क़ैद की ज़िन्दगी में बंद कोठरी (सेल) की सजा इसीलिए आदमी में आतंक पैदा करती है। क़ैदियों को बिना काम किये बैठे-बैठे भोजन, कपड़ा और आवास की सुविधा होती है जिनके लिए दूसरे लोगों को नियमित काम करना होता है। इसके बावजूद क़ैद का डर बतलाता है कि आदमी सदा अपनी ऊर्जा और क्षमताओं को किसी उद्यम में खर्च करना चाहता है। आदिमकाल के अपने शिकारी जीवन में आदमी का सारा समय शिकार करने या आसपास के भू-भाग में शिकार की टोह में चला जाता था। शिकार के औजारों और शिकार में दक्षता के विकास के साथ धीरे-धीरे जीवन में अवकाश बढ़ने लगा। इसके बाद जीवन का बाकी समय और आदमी की अतिरिक्त ऊर्जा नृत्य, संगीत और उस चित्रकारी और मूर्ति बनाने में लगी होगी जिनके अवशेष आज पाये जाते हैं। नव पाषाण युग के आगमन और कृषि के विकास के साथ आदमी का अवकाश बढ़ा होगा। इसके बाद आदमी अपने अवकाश को युद्धों के अलावा (जो नगरीय सभ्यता के साथ बार-बार होने लगे) विविध तरह के गृह-निर्माण, नगर-निर्माण और अपने घरों और पास-पड़ोस को कलाकृतियों से सजाने में लग गया। इनसे आगे बढ़ अपने भीतर के विविध आवेगों को समझने और उन्हें अलग विधाओं में अभिव्यक्ति देने की कोशिश करने लगा। अवधारणात्मक क्षमता के विकास से ऐसी अभिव्यक्ति की संभावना सीमाहीन हो गयी। सभी तरह की संभव और असंभव स्थितियाँ मनुष्य द्वारा कल्पित और अभिव्यक्त होने लगीं। इसके बाद विज्ञान की तरह कलाओं की भी अपनी परंपराएँ विकसित होने लगीं जो स्वयं अपने विकास की दिशा तय करती थीं—वैसी दिशा जिनका जीवन-संघर्ष से सीधा रिश्ता नहीं था। जीवन-संघर्ष के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

'फॉलआउट' (अप्रत्याशित परिणाम) के रूप में इनमें चाहे जो परिवर्तन होते हों। आधुनिक औद्योगिक सभ्यता ने अवकाश और कला के लिए उपलब्ध वस्तुओं दोनों का इजाफा किया है। लेकिन इसने उस समुदाय को नष्ट कर दिया है जिससे कला की संप्रेषणीयता का आधार बनता था। इसके अलावा शहरीकरण ने आदमी को उस प्राकृतिक परिवेश से काट दिया है जिससे हज़ारों वर्ष से मनुष्य रचनात्मक ऊर्जा ग्रहण करता था। संस्कृति के केन्द्र अब नगर बन रहे हैं। इससे कलाकृति के चरित्र में एक मौलिक बदलाव आया है। अब कला समुदाय से संवाद के माध्यम के बजाय या तो शुद्ध रूप से आत्मचेता बन गयी है या बाजार के लिए तैयार माल। इससे यह हुआ है कि जैसे प्राचीनकाल के शिकारी कलाकृतियों को उनके जादुई प्रभाव में विश्वास के कारण शिकार में सहायक मानते रहे होंगे वैसे ही आज के व्यापारी कलाकृतियों को अलग-अलग तरह से अपनी कमाई का साधन बनाने में लगे हुए हैं। इस प्रक्रिया में कलाओं के इन नये संरक्षकों (पेट्रनों) द्वारा इसे बांध इसकी आध्यात्मिक उड़ान को बाधित करने की कोशिश भी होती रहती है। हमारे अपने समय में कलाकार और व्यापारी समाज का यह संघर्ष चारों ओर दिखाई देता है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : सात

समाज का ताना-बाना : व्यवस्था और धर्म

पिछले अध्यायों में हम देख चुके हैं कि आनुवंशिकी से प्राप्त सहज प्रवृत्ति से परे जा मनुष्य जीवन की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए कौन से संस्कृतिजन्य कौशल विकसित करता है। परिवेश को समझने और उसके साथ संगति बैठाने के क्रम में विज्ञान का विकास होता है। वैसे ही कला का विकास प्रकृतिजन्य साज-सज्जा के समानांतर मानव निर्मित साज-सज्जा के विकास एवं अवकाश के क्षणों में आनन्द के विस्तार के लिए होता है। इसी क्रम में विज्ञान और कला दोनों की उपलब्धियों के उपयोग से मनुष्य जीवन की आवश्यक वस्तुओं जैसे खाद्य पदार्थों, शरीर की रक्षा के लिए वस्त्र और आवास के लिए घर तथा सजावट एवं दिखावट की अनेक अनावश्यक वस्तुओं के निर्माण में प्रचुरता हासिल करता है। इसकी अलग से चर्चा नहीं की गयी क्योंकि इसकी चर्चा चारों ओर मनुष्य की तकनीकी उपलब्धियों को गिनाने में होती रहती है। ये सब संस्कृति की सफलता के गरिमामय आयाम हैं। लेकिन मनुष्य की संस्कृति उसकी अपनी प्रजाति के दूसरों सदस्यों के साथ कोई संतोषप्रद संबंध प्रदान करने में अब तक असफल रही है।

हमने पुस्तक के दूसरे अध्याय (अमरत्व की तलाश) में देखा है कि मानव प्रजाति के नर और मादा के संबंध को भी कोई संतोषप्रद रूप देने में संस्कृति असफल रही है। परिवार से लेकर समाज तक में सभी स्तर पर मानव संबंध तनाव, संघर्ष एवं हिंसात्मक कामों से भरे हुए हैं। सबसे विलक्षण बात यह है कि पूरे प्राणी जगत् में मनुष्य ही अकेला है जो अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों की हत्या करता है। इससे भी बढ़कर विस्मयकारी बात यह है कि ऐसी हत्याएँ किसी तरह के विरोध के क्षणिक आवेश में अपवाद स्वरूप नहीं होतीं बल्कि संगठित रूप से, सोच समझ कर ठंडे दिमाग से सुनियोजित ढंग से हज़ारों तथा लाखों की संख्या में होती हैं, और इन हत्याओं के समर्थन में ऊँची नैतिकता के सशक्त तर्क उपस्थित किये जाते हैं। ऐसी हिंसा के औजार—बंदूक और तोप से लेकर परमाणु बम और इनके पक्ष में गढ़े गये तर्क दोनों ही मानव संस्कृति की देन हैं। संस्कृति के इस पक्ष पर विचार करने से यह जीवनदायिनी के बजाय जीवननाशिनी की भूमिका में दिखायी देने लगती है।

अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों के प्रति एक हद की आक्रामकता जीवों की सभी प्रजातियों में पायी जाती है। जीव वैज्ञानिक इसे जीवों के विकास के लिए एक आवश्यक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

कारक मानते हैं। वे मानते हैं कि इस तरह की आक्रामकता से एक ख़ास घनत्व से ज़्यादा जीवों का एक स्थान पर जमाव नहीं हो पाता, और इस तरह जीवन के लिए आवश्यक पोषक तत्त्वों के अभाव में प्रजाति के नष्ट होने का ख़तरा टलता है। दूसरा, ऐसी आक्रामकता मादा को लेकर नरों में होती है जिससे प्रजाति का सबसे सशक्त सदस्य ही अपनी संतान पैदा करता है और इससे प्रजाति के सदस्यों की क्षमता का ह्रास होने से बचता है। एक तीसरे तरह की आक्रामकता समूह में रहने वाली प्रजातियों में वरीयता स्थापित करने के लिए होती है। इसमें समूह का सबसे शक्तिशाली सदस्य (शक्तिशाली यहाँ व्यापक अर्थ में प्रयोग किया गया है जिसमें बल के अलावा तेज आवाज, पंखों की बनावट या उनका रंग चटख होना या और भी कोई दूसरा गुण हो सकता है) समूह का अगुआ होता है। सभी सदस्य उसकी वरीयता को कबूल करते हैं। अगर समूह के अन्य सदस्यों में कोई टकराव होता है तो यह सदस्य हस्तक्षेप कर टकराव को ख़त्म करता है। कहीं किसी ख़तरे के आ जाने पर उसका सामना करने में यह समूह की अगुआई करता है। एक बार यह वरीयता कबूल कर लेने पर जब तक किसी तरह की कमी इस वरीय व्यक्ति में उम्र या दूसरे कारण से नहीं आती उसकी वरीयता पर कोई प्रश्न-चिह्न नहीं लगता। अक्सर समूह के सदस्यों में वरीयता का एक सोपानवत विभाजन होता है जिसे पक्षियों में प्रचलित विभाजन के पद 'पेकिंग आर्डर' का नाम जीव वैज्ञानिक देते हैं। इसमें सभी सदस्य अपने से ऊपर के सदस्य की वरीयता का सम्मान करते हैं। इस तरह कलह से मुक्त हो ये प्रजातियाँ एक स्थायी व्यवस्था के भीतर निवास करती हैं।

मानव प्रजाति में भी आक्रामकता और सोपानवत व्यवस्था (हाइरार्की) दोनों की प्रवृत्तियाँ प्रच्छन्न रूप से विद्यमान रहती हैं। लेकिन उसकी संस्कृति ने जिस तरह उसकी अन्य प्रवृत्तियों को सांस्कृतिक आविष्कारों से ढंक दिया है या बदला हुआ रूप दे दिया है वैसे ही इन प्रवृत्तियों पर भी एक सांस्कृतिक अवलेप चढ़ा दिया है। इतना ही नहीं, संस्कृतिजन्य नैतिक मूल्य अक्सर उसकी अन्तर्भूत प्रवृत्तियों के विपरीत पड़ते हैं और उन्हें त्यागने का दबाव डालते हैं। इस तरह मानव संबंधों में सदा सहज प्रवृत्ति और संस्कृति के बीच एक द्वन्द्वात्मक संबंध बना रहता है। इसकी कोई वैसी निष्पत्ति भी नहीं होती जैसी द्वन्द्वात्मक दर्शन में थीसिस-एंटिथीसिस से एक अंतिम सिंथीसिस निकलने का दावा किया जा सके। उलटे बार-बार ऐसा हुआ है कि संस्कृति में ऐसी अवधारणाओं का विकास हुआ है जो सहज प्रवृत्ति के सभी दबावों से मुक्त हो एवं उन्मुक्त चेतना की प्रक्रिया का सहारा पा मानव व्यवहारों को वैसे अतिमानवीय कुकृत्यों की ओर अग्रसर करता है जो 'पाशविक' जीवन की सीमा के भीतर कभी संभव नहीं हो पाता।

मानव संबंधों का मूल्यों के बंधन से बार-बार मुक्त होने का एक कारण भाषा का विकास भी है। भाषा के बाहर हम प्रत्ययों के संसार की कल्पना भी नहीं कर सकते। यहाँ भाषा का सिर्फ़ बोलचाल और लेखन के अर्थ में व्यवहार नहीं किया गया है। इसमें कविता, कहानी, उपन्यास आदि से बढ़कर दृश्य कला, संगीत, नृत्य, नाटक, सिनेमा आदि संप्रेषण के सभी माध्यमों को शामिल किया गया है। ये सदा उस संसार और समाज

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के समानांतर जो अस्तित्व में हैं अलग-अलग मूल्यों पर आधारित विविध बनावटों की दुनिया की तस्वीर पेश करते रहते हैं। यहाँ कला में जो व्यंजनों की बात की गयी है ध्यान में रखने लायक है। व्यंजनों का मूल उद्देश्य स्वाद देना और कलाओं की पृष्ठभूमि में मनोरंजन करना है और इसके लिए विविधता ज़रूरी है। लेकिन कलाकृतियाँ मनोरंजन से आगे जा आदर्श भी उपस्थित करती हैं। इन आदर्शों की भिन्नता और उनके परस्पर विरोधी होने से मूल्यों का विलक्षण तालमेल पैदा होता है। इसमें द'साद की तर्ज पर विविध प्रकार की क्रूरता पर आधारित भोगों की छोटी दुनिया, हिटलर का हज़ार साला राज्य, स्तालिन का सोवियत समाजवाद तथा दूसरी तरह के मानवतावादी और समतावादी युटोपिया, कुछ भी हो सकता है। एक बार आदमी की सहज प्रवृत्ति की प्रभुसत्ता नकार देने के बाद कोई ऐसी कसौटी नहीं बचती जिससे निश्चयात्मक ढंग से कहा जा सके कि इन विविध सामाजिक संरचनाओं में कोई एक ग्राह्य है और बाकी त्याज्य हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो चरणों में इसी किंकर्तव्यविमूढ़ता की अभिव्यक्ति अस्तित्ववादी दर्शन में होती रही जिसने अंततोगत्वा सब कुछ व्यक्ति के अपने विवेक पर छोड़ दिया। लेकिन इससे समस्या जहाँ की तहाँ रह गयी क्योंकि व्यक्ति न शून्य में पैदा होता है और न अकेला शून्य में कुछ कर सकता है। उसका हर नैतिक निर्णय दूसरे व्यक्तियों की पृष्ठभूमि में होता है और अगर सभी अपनी अलग-अलग चाल चलें तो कोई समाज बन नहीं पाता। फिर यह दृष्टि द'साद, हिटलर और स्तालिन की दृष्टि की ही पोषक होगी जिसमें हर व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के प्रति दायित्व से मुक्त होकर किसी भी संभव तरीके से दूसरों पर अपनी इच्छा को लादता है। दरअसल आज की पूंजीवादी व्यवस्था भी, 'उदारीकरण' जैसे शब्दों से इसे चाहे जितना गरिमामंडित किया जाय, बुनियादी तौर पर इसी तर्क से आदमी को दूसरे आदमियों के प्रति किसी भी नैतिक दायित्व से मुक्त कर देती है। इसका तर्क है : हमें मुनाफा और बाजार पर वर्चस्व चाहिए, इस क्रम में अगर लोग बेरोजगारी और भुखमरी के शिकार होते हैं या हमारे कारखानों के प्रदूषण और बनाये गये हथियारों से दुनिया नष्ट हो जाय तो यह देखना हमारा काम नहीं। कोई अचरज नहीं कि अस्तित्ववादियों में कई द'साद को एक नैतिक स्रष्टा के रूप में देखते हैं। सार्त्र का नाटक 'इन द मेश' परोक्ष रूप से स्तालिन की तानाशाही की वकालत है क्योंकि इसका मूल नायक इस बात से गौरवान्वित होता दिखाई देता है कि वह अपने द्वारा किये गये सभी जुल्मों की जवाबदेही लेने के लिए तैयार है। किसी दूसरे संदर्भ में सार्त्र ने यह विचार व्यक्त किया है कि कोई भी क्रान्तिकारी, जो आज सक्रिय है, वह भरोसे के साथ नहीं कह सकता कि वे जो उसके सहयोगी हैं आगे भी क्रान्ति के उद्देश्यों को लेकर चलते रहेंगे। सचमुच में यह एक तरह का निष्काम कर्मयोग है। लेकिन इस कर्म में चूँकि साधनों पर कोई बंधन नहीं इसलिए यह निष्काम के साथ निष्ठुरता का कर्मयोग भी बन जाता है।

अन्तर्भूत जैविक प्रवृत्तियों के निषेध के इस घटाटोप के बीच संस्कृति में सहज प्रवृत्ति की निरंतरता के कुछ चिह्न देखे जा सकते हैं क्या? मनुष्य के सामाजिक जीवन में सहज प्रवृत्ति के प्रभाव की कोई उपयोगिता बच गयी है क्या? हमारे वर्तमान सामाजिक

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

संकट और ऊहापोह में क्या हम राह की तलाश में कोई रोशनी अपनी जैविक विरासत में पा सकते हैं? ये सब स्वाभाविक सवाल हैं। क्योंकि दुनिया आज जैसी है उसमें मानव संस्कृति से कोई स्पष्ट निर्देश हमें अपने सामाजिक संबंधों को नियमित करने के लिए नहीं मिलता। लेकिन उन समाजों के अध्ययन से हम कुछ रोशनी पा सकते हैं जो आधुनिक अर्थ में अशिक्षित होने के कारण भाषा के उस मायावी प्रभाव से, जिससे आदमी का स्थिति का ज्ञान लुप्त हो जाता है, कुछ हद तक मुक्त हैं और इस तरह मानवीय संबंधों को एक लीक पर बनाये रखने के लिए कुछ निश्चित नियमों का पालन करते हैं। इनमें यह देखा जाता है कि समूह में रहने वाले दूसरे पशुओं की तरह, जिनमें कुछ सदस्यों को वरीयता के आधार पर नेतृत्व प्रदान करने का हक होता है, इनमें भी कुछ व्यक्ति नेतृत्व के स्थान पर होते हैं जिनके आदेशों के पालन का दबाव दूसरे सदस्यों पर होता है। एक बुनियादी फ़र्क़ यह होता है कि जहाँ पशुओं में अगुआ अपने आदेशों का उल्लंघन करने वालों को प्रत्यक्ष शक्ति प्रदर्शन (शक्ति प्रयोग नहीं) के बल राह पर लाता है, इन आदिम समाजों में शक्ति के बजाय कुछ विशेष तरह के वैचारिक दबावों और दंड प्रणाली से इस उद्देश्य की पूर्ति होती है। चूँकि ऐसे आदिम कबीले कुलों पर आधारित होते हैं या एक प्रमुख कुल के वर्चस्व के भीतर, इन कुलों की परंपराओं का दबाव राह से भटकने वाले को राह पर लाता है।

नृशास्त्री आई.एम. लेविस ने अफ़्रीका के अपने अध्ययनों और इवांस प्रिचार्ड तथा कई अन्य नृशास्त्रियों के अध्ययनों के आधार पर अनेक वैसे कबीलों की अपराध नियंत्रण प्रणाली का विवरण अपनी पुस्तक[1] में दिया है जिसे वह अराजक प्रणाली कहता है क्योंकि इसमें राज्यसत्ता जैसी कोई चीज़ या कबायली सरदार नहीं होते। अध्ययन किये गये कबीलों में दक्षिण सूडान के नुएर तथा सोमाली के सोमाली कबीले थे। इनमें नियंत्रण दो स्तरों पर होता है। एक स्तर पर तो कुल या कबीले के जो वयोवृद्ध व्यक्ति होते हैं उनके निर्देश या निर्णयों द्वारा होता है। दूसरे स्तर पर यह विश्वास काम करता है कि इन वयोवृद्ध लोगों की आज्ञा का उल्लंघन पितरों को नाराज करता है जो बदले में बीमारी या दूसरी प्राकृतिक आपदा ला सकते हैं। किसी आपदा को सरलता से किसी अवज्ञा से जोड़ा जा सकता है और इस तरह वयोवृद्ध लोगों के वर्चस्व को सुनिश्चित किया जाता है। वयोवृद्ध लोगों की अति से बचने का उपाय भी इन कबीलों में से कुछ ने निकाल लिया है। अगर वयोवृद्ध लोग ज़्यादती पर उतर आयें तो उन पर डायन बन जाने का आरोप लगाया जा सकता है और इस तरह उनकी आज्ञा के पालन की विवशता ख़त्म हो जाती है। अगर पितरों को प्रसन्न करने वाले अनुष्ठानों का भी कोई अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा तब फिर यह मान लिया जाता है कि किसी प्रतिकूल डायन का प्रभाव सक्रिय है। इस तरह बौद्धिक स्तर पर दंड व्यवस्था की अनुकूलता एवं उपादेयता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगता। स्पष्ट है कि पशुओं में सामूहिक नियंत्रण का जो काम सहज प्रवृत्ति से होता

1. I. M. Lewis, Social Anthropology in Perspective, Peregrine Book Ltd. Middlesex, England, 1977

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

है वह काम इन कबायली समूहों में जो शिकार या पशुपालन करते हैं, कुल या कबीलों के बड़ों के द्वारा, पितरों या किसी दूसरी मनुष्येतर हस्ती की निगरानी में सामूहिक दंड विधान से होता है। इस तरह यह दंड विधान एक तरह के धार्मिक विश्वास के ऊपर आधारित हो जाता है। समाज के कामों को सुचारु रूप से करने के लिए धार्मिक मान्यताएँ अनिवार्य रूप से महत्त्वपूर्ण बन जाती हैं। इस प्रसंग में समाजशास्त्री डुरखाइम का यह विचार सही लगने लगता है कि किसी समाज का धार्मिक विश्वास उसकी संरचना को प्रतिबिंबित करता है। इन नियंत्रण प्रणालियों में सबसे ज़्यादा ग़ौर करने वाली बात यह है कि जैसे पशुओं में अपनी प्रजाति के अन्य सदस्यों के खिलाफ़ आक्रामकता जान लेने तक की नौबत नहीं लाती वैसे ही इन कबीलों में भी दंड का रूप ऐसा होता है कि मौत के दंड से बचा जाय और इस तरह के दंड का उद्देश्य समाज में किसी अपराध से पैदा दरार को पाटना होता है। इसलिए हत्या के मामले में मृत्युदंड नहीं दिया जाता। मृत और हत्यारे के कुलों की स्थिति के हिसाब से ऊँट या किसी अन्य उपयोगी पशुओं को मुआवजे के रूप में दिया जाता है। यह आश्चर्य की बात है कि आधुनिक समाजों में मृत्युदंड को समाप्त करने का निर्णय बहुत कम देशों की सरकारें ले पायी हैं। यह बतलाता है कि आदिम समाजों में दंड विधान बहुत कुछ सहज प्रवृत्ति के अनुसार बना होगा जिसमें अपनी प्रजाति के दूसरे सदस्यों की हत्या लोगों की भावना को आघात पहुँचाने वाली होती होगी। जो भी हो, मृत्यु के बदले मृत्यु से तो मृत या उसके संगे-संबंधियों को कोई भरपाई नहीं मिलती होगी। इस अर्थ में कबीलाई न्याय विधान ज़्यादा तर्कसंगत है। जहाँ तक मृत्युदंड से अपराधों को नियंत्रित करने की बात है अब तक तो यह कारगर नहीं हो पाया है। आधुनिक सभ्य समाजों में वैसे अपराधों की संख्या लगातार बढ़ती रही है जिनके लिए मृत्युदंड दिया जाता है।

अपराधों के लिए दंड देने की प्रक्रिया भी इन समाजों में परंपरागत व्यवहारों पर ही आधारित होती है। शायद आधुनिक समाजों के दंडविधान समाज के उस स्तर पर बने हैं जिस पर समाज के ऊपर राज्यसत्ता, चाहे वह राजा की हो चाहे चुने गये प्रतिनिधियों की, स्थापित हो चुकी थी और न्याय विधान इस सत्ता की मान्यताओं पर आधारित था। अब अपराध उस व्यक्ति के खिलाफ़ नहीं माना जाता जिसके जान-माल की क्षति होती है बल्कि राज्यसत्ता के खिलाफ़ माना जाता है जिसके न्याय विधान की अवहेलना हुई है। शायद प्रारम्भ में सभी जगह न्याय-व्यवस्था लोगों में प्रचलित न्याय की परंपरा पर ही आधारित रही होगी। ब्रिटेन में तो काफ़ी बाद तक कानून का प्रमुख आधार 'कॉमन लॉ' की परंपरा ही मानी जाती थी जो लोगों का रिवाजी कानून होता था। हर अपराध का छोटा या बड़ा राजद्रोह बन जाना राज्य व्यवस्था का आम आदमी के जीवन से कटकर ऊपर टंग जाने के बाद की बात लगती है। यह कुछ अटपटा लगेगा कि आधुनिक लोकतांत्रिक राज्यों को लोगों से कटकर ऊपर टंगा कहा जाय। लेकिन आज यह हकीकत है। जैसे-जैसे राज्य व्यवस्था का स्वरूप वृहद् होता गया है यह आम लोगों की भावना के नियंत्रण से बाहर होती गयी है। अमेरिका जैसे आधुनिकतम और सबसे पुराने लोकतंत्र में भी आम आदमी की भागीदारी लोकतांत्रिक निर्णय प्रणाली में नगण्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होती गयी है। अब आम आदमी सिर्फ़ मीडिया या वृहद् हित समूहों द्वारा निर्धारित विकल्पों और प्रचारित व्यक्तियों में से किसी एक को कुछ वर्षों तक अपने समर्थन की मुहर लगा देता है। इसमें अच्छे या बुरे विकल्प के संबंध में निर्णय का आधार मतदाता की स्वत:स्फूर्त भावना नहीं होती बल्कि एक दूर-दराज सत्ता के मानकों द्वारा निर्धारित मूल्य होते हैं जिनका असली संबंध आज की जटिल अर्थ-व्यवस्था के अदृश्य हितों से होता है। मनुष्य की राजनीतिक संस्कृति ने भाषा की चतुराई से आरवेल के उपन्यास 'उन्नीस सौ चौरासी' में उल्लिखित व्यवस्थाओं की तर्ज पर झूठ को सच और सच को झूठ साबित करने का एक ऐसा कौशल हासिल कर लिया है कि व्यक्तियों के विवेक को लकवा मार जाता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति बिल क्लिंटन ने 1999 के प्रारम्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ को संबोधित करते हुए यह घोषणा की थी कि दुनिया में फिलहाल सबसे बड़ी चुनौती आतंकवाद की है क्योंकि आतंकवादियों के हमले में अनेक निर्दोष व्यक्तियों की हत्या होती है। लेकिन इसी साल स्वयं बिल क्लिंटन के राष्ट्रपतित्व में अमेरिका की पहल पर नाटो (नॉर्थ अटलांटिक ट्रीटी ऑर्गनाइजेशन) द्वारा युगोस्लाविया पर हफ्तों बम बरसाये जाते रहे जिसमें भारी संख्या में आम नागरिक मारे गये और उनके जीवन का आधार यातायात, बिजली, पानी आदि की व्यवस्था नष्ट कर दी गयी। इस बमबारी का उद्देश्य युगोस्लाविया के तत्कालीन अध्यक्ष मिलोसोविच से घुटने टेकवाना बताया जाता था, जिन पर युगोस्लाविया के कोसोवो प्रान्त के अल्बानियाई मूल के नागरिकों पर ज़्यादतियों का इलजाम था। जहाँ आतंकवादियों के हमलों में सैकड़ों निर्दोष लोगों की मृत्यु होती है, इन हमलों में हज़ारों बेगुनाह लोग मरे और तबाह हो गये। मानवता के खिलाफ़ इससे भी बड़ा जघन्य अपराध राष्ट्रपति ट्रुमैन ने 1945 में किया था जब जापान के नगर हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु बम गिरवा कर लाखों व्यक्तियों की हत्या क्षण भर में कर दी थी और अनेक पीढ़ियों के जन्मे-अजन्मे लोगों को विकलांगता और कैंसर जैसी बीमारियों से ग्रस्त होने के लिए अभिशप्त कर दिया था। लेकिन जहाँ हिटलर के अफसरों पर मानवता के खिलाफ़ अपराध के लिए न्यूरेम्बर्ग में मुकदमा चला वहाँ ट्रुमैन और अमेरिकी सैनिक व्यवस्था 'पेंटागन' के उच्च अफसरों के खिलाफ़ हिटलर के अपराध से कहीं बड़े इस अपराध के लिए मुकदमा चलाकर दंड देने की कभी कोई चर्चा तक नहीं चली। यह थ्रासीमेकस के उस तर्क की याद दिलाती है जिसके साथ प्लेटो की विख्यात पुस्तक रिपब्लिक का प्रारम्भ होता है : 'अच्छाई (वर्चू) वही है जिससे शक्तिशाली लोगों का हित सधे।' यह तर्क जो आज के सर्वाधिक विकसित औद्योगिक समाजों की नैतिकता का आधार बन गया है, आदिम अवस्था में रहने वाले जनजातीय समाजों के लोगों की समझ के बिल्कुल परे है।

पहले हमने कबीलाई समूहों में लोगों के कार्यकलाप को निर्धारित करने में देवों और पितरों की भूमिका की चर्चा की है। यह चर्चा हमारा ध्यान तुरन्त समाज व्यवस्था चलाने में धर्म की भूमिका की तरफ़ ले जाती है। उक्त चर्चा से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि लोगों के आपसी संबंधों को नियंत्रित करने में कुलों के प्रति वफ़ादारी और

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

लोकाचार के ऊपर किसी आध्यात्मिक नियंत्रण की भी ज़रूरत होती है। अपने विविध रूपों में धर्म यही काम करता है। और चूँकि लोगों के आपसी संघर्ष को नियंत्रित कर उनके अस्तित्व की रक्षा के लिए यह ज़रूरी होता है, धर्मों की मर्यादा सभी पारंपरिक समाजों में सर्वोपरि रही है। भारत में तो धर्म की भूमिका को इतना महत्त्व दिया गया कि राजाओं को सदा पुरोहितों से नीचे का दर्जा कबूल करना पड़ता था और सभी राजकीय निर्णय के पहले राजपुरोहित की मंत्रणा ज़रूरी होती थी। प्रारम्भ में समूह का सर्वाधिक शक्तिशाली और सम्मानित व्यक्ति पुरोहित ही होता होगा। बाद में यही प्रतिमान बना होगा उस दैवी शक्ति का जो अदृश्य रह लोगों के सभी कार्यकलापों को नियंत्रित करती है : पारितोषिक या दंड देती है।

पिछले अध्याय में मनुष्य में अन्तर्निहित दो प्रवृत्तियों आक्रामकता एवं परोपकार की चर्चा की गयी है। इसमें पहली संघर्ष और मृत्यु की ओर ले जाने वाली होती है और दूसरी सद्भावना, सहयोग और जीवन की सुरक्षा की ओर। जैसे-जैसे मनुष्य की अवधारणात्मक और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति की क्षमता बढ़ी, इन प्रवृत्तियों ने काल्पनिक व्यक्तित्व ग्रहण कर लिया। आदिम समाजों में कल्याणकारी देवों और विघ्नकारी डायनों या देवों की कल्पना चारों ओर देखने को मिलती है जो उनके समाजों की खुशहाली एवं विपत्ति की स्थितियों के लिए जवाबदेह माने जाते हैं। शायद यही भाव आगे चलकर ईश्वर और शैतान की कल्पना में मनुष्य की अपनी प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट हुए। अनेक धर्मात्मा लोग शायद यह कहेंगे कि ईश्वर सिर्फ़ मानव कल्पना की उपज नहीं है बल्कि सचमुच अस्तित्व में है। ऐसे लोगों से कोई विवाद नहीं हो सकता क्योंकि ऐसे लोग प्रत्यक्ष साक्षात्कार के आधार पर ही अपनी बात कहते होंगे और प्रत्यक्ष का जवाब तर्क या अनुमान से नहीं दिया जा सकता। यह बात दीगर है कि कुछ शंकालु लोग ऐसे प्रत्यक्ष दर्शन को भी 'हैल्युशिनेशन' यानी दृष्टि-भ्रम कह कर नकार देंगे।

मनुष्य के जीवन के लिए धर्म की भूमिका जो भी हो मनुष्य के सांस्कृतिक विकास के साथ यह अभिन्न रूप से जुड़ी रही है—जो सामने है उससे परे की अदृश्य संभावनाओं की कल्पना से। आज से लगभग चालीस हज़ार वर्ष पूर्व नीएंडरथल मानवों की दो कब्रों में मृत शिशुओं की अस्थियाँ पायी गयी हैं। कब्र में लाश के साथ जिन वस्तुओं को रखा गया उनसे निश्चित रूप से मृत्यु से आगे की संभावना की कल्पना जुड़ी लगती है। इसके बाद से सभी युगों में अस्थियों या मृतकों की भस्म को सुरक्षित रखने की कोई न कोई परिपाटी रही है जिसका पता पुरातात्त्विक खुदाइयों से लगता है। आधुनिक युग में भी जब रोज के अनुभवों की दुनिया से अलग किसी दूसरे अस्तित्व की बात में लोगों का विश्वास काफ़ी कम हो गया है रोज नये धर्म और धार्मिक संप्रदाय पैदा हो रहे हैं। यह अचरज में डालने वाली बात लगती है कि ऐसे नये संप्रदाय अमेरिका जैसी अत्याधुनिक संस्कृतियों में सबसे ज़्यादा पैदा होते हैं और अपने मोहक अथवा जानलेवा व्यवहारों से लोगों को स्तब्ध कर देते हैं। इससे ऐसा लगता है कि आदमी केवल रोटी या मोटरगाड़ी के लिए ही नहीं जी सकता। उसे सदा एक बड़े उद्देश्य या प्रत्यय की तलाश रहती है जिसके साथ वह

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
अपने को जोड़ सके। यह फिर संस्कृति के भीतर 'ट्रांसेन्डेन्स' की प्रवृत्ति की अभिव्यक्ति लगती है जैसा कि हम ने कला के प्रसंग में पाया था। यही है जिससे मानव संस्कृति आदमी के जीवन को सहज प्रवृत्ति से आगे जा एक नया आयाम देती है।

अमेरिका में अनेक छोटे धार्मिक समुदायों के जहाँ-तहाँ उदय होने की बात को हम धार्मिकता की इसी भावना की पृष्ठभूमि में समझ सकते हैं। जहाँ एक तरफ़ यह धार्मिकता आदमी को किसी आध्यात्मिक विचार या कल्पना के साथ, या अपने समुदाय की ही किसी प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति से जोड़ना चाहती है वहीं अमेरिका का अत्याधुनिक औद्योगिक समाज आदमी को उपभोगवाद से बांधने की कोशिश करता है। टी.वी. और इंटरनेट उसकी कल्पना को सीमांकित करते हैं। अपने जीवन की बढ़ती ज़रूरतों को पूरा करने के क्रम में उसे इतनी तरह की सूचनाओं को समाहित करना पड़ता है कि उसके मस्तिष्क पर अत्यधिक बोझ—जिसे अब 'इंफार्मेशन ओवरलोड' की संज्ञा दी जाने लगी है—पड़ता है। इसके आगे कहीं कोई दिव्य झाँकी या आदर्श दिखाई नहीं पड़ता। सभी सूचनाओं का संयोजन उसे अपने ओहदे को थोड़ा और ऊँचा, आय को कुछ और बड़ी और भोग की वस्तुओं की सूची को थोड़ा और लम्बा करने की सुविधा भर देता है। इसके आगे कुछ दिखाई नहीं देता। ऊबकर वह इस संस्कृति से बाहर किसी हिप्पी या अन्य 'कल्ट' में पनाह ढूँढ़ता है।

प्रचुरता के बीच निरर्थकता के बोध के इस बिन्दु पर संस्कृति का आध्यात्मिक पक्ष इस भौतिक संसार के समानांतर चेतना के संसार का निर्माण करता है। इस संसार का कोई ठोस पकड़ पाने वाला रूप नहीं होता। जहाँ चैतन्य मनुष्य है वहाँ यह संसार विविध कोडों में, लोककथाओं में, मिथकों में, काव्यों में, चित्रों, मूर्तियों और स्थापत्य में तथा लिखित, छपी, छायांकित, ताल-पत्रों, कागजों और डिस्कों में संचित है जो दूसरे मनुष्यों की चेतना के स्पर्श से अपनी पूरी गरिमा में जीवंत हो उठता है। चैतन्य मनुष्य को छोड़ जड़ या चेतन दूसरे किसी भौतिक अस्तित्व के लिए यह सब अर्थहीन कोलाहल या कोरे कागज, पत्थर अथवा मिट्टी से अधिक कुछ भी नहीं है। इसी अर्थ में यह संसार भौतिक जगत् से बाहर है। इस संसार के निहितार्थ को, प्रत्यय लोक को, जो अभौतिक है किसी भौतिक पदार्थ से तोड़ा या प्रभावित नहीं किया जा सकता। इस अर्थ में इसके बारे में वही कहा जा सकता है जो भारतीय दर्शन में आत्मा के बारे में कहा जाता है—'न इसे शस्त्र से काटा जा सकता है और न आग से जलाया जा सकता है।' हाँ, इसे चेतना के स्पर्श से बाहर किया जा सकता है। इसीलिए चैतन्य संसार से आतंकित तानाशाह पुस्तकों, कलाकृतियों आदि को जलाते या प्रतिबंधित करते रहते हैं।

मानव प्रजाति के अस्तित्व को अक्षुण्ण रखने का अगर कोई औचित्य है तो यही कि यह संस्कृतिजन्य संसार तभी तक अस्तित्व में है जब तक मनुष्य अस्तित्व में है। अपने इस सृजन से अलग मानव अस्तित्व उतना ही अर्थहीन है जितने वे बादल के टुकड़े, जो आसमान में जुटते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं—अनेक रासायनिक तत्त्वों का आकस्मिक संयोग और वियोग। मानव प्रजाति का लोप इस समानांतर संसार का लोप है जो इस भौतिक संसार से कहीं अधिक मूल्यवान है। क्योंकि एकमात्र इसी संसार में मूल्यों

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

का अस्तित्व है—साहित्य के मूल्य, नैतिकता के मूल्य, प्रेम, विरह, हँसी, रुदन इन सबों के मूल्य। इस चेतना के संसार के बाहर चारों तरफ़ आकारहीनता एवं रेगिस्तान का सन्नाटा है।

ऊपर जिस आध्यात्मिकता की चर्चा की गयी है उसका अर्थ यह नहीं कि धर्म जीवन के दूसरे व्यवहारों से अलग कुछ है। आदमी के व्यक्तित्व में धर्म, विज्ञान, कला आदि के स्रोत अलग-अलग नहीं होते। इसमें इन सभी तरह की भावनाओं में एक निरंतरता रहती है। ये सब सम्मिलित रूप से आदमी के कार्यकलाप को प्रभावित करते हैं। आदमी अपनी सुविधा और समझ के लिए इन्हें अलग-अलग खण्डों में बांट कर देखता है। इसीलिए महान् दार्शनिकों और साहित्यकारों में विश्वदृष्टि (विज्ञान), नैतिक मूल्यबोध (धर्म) और भावनात्मक अभिव्यक्ति (कला) सभी एक समग्रता में व्यक्त होते हैं। प्लेटो, गेटे, नीत्शे और इलियट जैसे बड़े दार्शनिक साहित्यकारों में यह निरंतरता स्पष्ट दिखाई देती है। भारत में तो सारा महान् साहित्य धार्मिक साहित्य है जिसमें विश्व दृष्टि और मूल्यबोध एकाकार हो गये हैं।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

अध्याय : आठ

संस्कृति का आत्मबोध और विशालता का संकट

इस अध्ययन की शुरूआत संस्कृति और अप-संस्कृति के ज़िक्र के साथ हुई थी। पिछले एक अध्याय में प्रसंगवश यह भी कहा गया है कि दरअसल अप-संस्कृति वही है जो संस्कृति के मूल उद्देश्य मानव प्रजाति की रक्षा और विकास के विपरीत उसे नष्ट करने वाली होती है—जैसे विध्वंसकारी युद्धों को प्रोत्साहित करने वाली संस्कृति। ऐसी संस्कृति की बुनियाद होती है मनुष्यों को 'हम' और 'वे' में बांटने की प्रवृत्ति, जिससे हम के प्रति अंधनिष्ठा और वे के प्रति उस हद तक की नफरत और विद्वेष होता है कि उन्हें मनुष्य की श्रेणी से बाहर कर देखा जाता है और उनके अस्तित्व को मिटा देना लगभग कर्तव्य मान लिया जाता है। इस तरह के विद्वेष के भी कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। इन रुझानों पर विचार करने से लगता है कि कुछ हद तक 'अप-संस्कृति' का निषेध उन सांस्कृतिक प्रभावों का निषेध भी है जिनका उत्स हमारी अपनी संस्कृति से बाहर से होता है। इसके पीछे एक कारण सभी अनजान एवं नयी वस्तुओं से भय और असुरक्षा महसूस करना है, जो मानव स्वभाव का एक गुण है। लेकिन अत्यधिक खोजी रुझान वाला (एक्सप्लोरेटरी) जीव होने के कारण मनुष्य का रुझान नयी वस्तुओं को देखने एवं परखने का भी होता है और इस क्रम में जानने की उत्सुकता आकर्षण भी पैदा करती है।

आदमी की मानसिकता इस तरह नीयोफोबिया (नयी वस्तुओं का भय) और नीयोफिलिया (नयी वस्तुओं का आकर्षण) इन दो रुझानों के बीच झूलती रहती है। नयी चीज़ों को देखना, परखना और उनके साथ प्रयोग करना जीवन की नयी संभावना की राह खोलता है—अगर आदमी नये की अंधभक्ति में उसके सही मूल्यांकन का विवेक न खो दे। लेकिन हर समाज में सशक्त सांस्कृतिक परंपराएँ होती हैं जिनके भीतर जीवन व्यवस्थित होकर चलता है। इन परंपराओं के साथ इन्हें कायम रखने के लिए कुछ व्यक्तियों के समूह जुड़ जाते हैं। इन व्यक्तियों का इनके साथ एक निहित स्वार्थ जुड़ जाता है। नये के प्रति स्वाभाविक संशय के अलावा इस समूह को नये में अपने स्वार्थों पर ख़तरा भी दिखाई देता है। इसलिए नये सांस्कृतिक प्रभावों के विरुद्ध भावनाओं को उभारने का भरसक प्रयत्न इन समूहों द्वारा होता है। इन परस्पर दबावों के बीच सही निर्णय करना आसान नहीं होता। नयी चीज़ों या बाहरी प्रभावों का संपूर्ण निषेध संस्कृति में जड़ता पैदा करता है। नयी चीज़ों को आँख बंद कर अपनाना सामाजिक जीवन के

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

आधार को हिला सांस्कृतिक बिखराव और ह्रास पैदा करता है। इसलिए संस्कृति में दरअसल कितना अपना है और कितना बाह्य, कितना बाहरी प्रभाव अपरिहार्य है और कितना त्याज्य इसकी कसौटी विकसित करना ज़रूरी होता है। हर स्थिति के लिए कोई एक कसौटी हो नहीं सकती और एक कसौटी को कायम करने वाला कोई बाहरी कर्ता तो होगा नहीं। जो किसी सांस्कृतिक समुदाय में हैं वे ही यह कसौटी बनायेंगे और वे स्वयं उपर्युक्त दोनों तरह के प्रभावों में काम करेंगे। इसका एकमात्र उपाय जो पूरा नहीं हो एक हद तक सही निर्णय में सहायक हो सकता है, वह है उस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को समझना जिसमें मानव संस्कृतियों के बीच होने वाले आदान-प्रदान के पैमाने का अंदाज होता है।

हम पहले देख चुके हैं कि मानव समूहों के कुछ हिस्सों के अपने समूह से अलग होने पर नये परिवेश के अनुसार उनकी संस्कृतियों में बदलाव आता है। यह बहुत कुछ वैसा ही होता है जैसा परिवेश बदल जाने से प्रजातियों की विविधता पैदा होती है। लेकिन चूँकि इन संस्कृतियों को बनाने वाले मनुष्यों की मूल प्रवृत्तियाँ नहीं बदलतीं— इसका कारण है कि आनुवंशिकी में होने वाले बदलाव के लिए ज़रूरी समय के हिसाब से पार्थक्य का समय नगण्य होता है—संस्कृतियाँ एक-दूसरे के लिए अजूबा भले ही बन जायें, इनकी आपसी संप्रेषणशीलता का द्वार बिल्कुल बन्द नहीं होता। इसीलिए आज से बीस या तीस हज़ार वर्ष पहले के मानवों की चित्रकला एवं मूर्तिकला और दो लाख वर्ष पहले के पत्थर के हथियारों के शिल्प को समझने में हमें कोई कठिनाई नहीं होती हालाँकि उनकी जीवन पद्धति और परिवेश से आज हमारा दूर का भी रिश्ता नहीं बैठता। यह संप्रेषणीयता इस हद तक जाती है कि हम नीएंडरथल मानवों की संस्कृति में भी अपने से कुछ सामंजस्य देख पाते हैं हालाँकि नृशास्त्रियों के अनुसार वे हमारे वर्तमान मानव वंश से एक अलग शाखा में विभक्त हो चुके थे। यह ज़रूर है कि उनकी कलाओं या उनके शिल्प का हमारे लिए ठीक वही अर्थ नहीं है जो उनके लिए था। जो बात संस्कृतियों के काल की इस भिन्नता के साथ लागू है वही बात एक ही समय में अस्तित्व में रहने वाली संस्कृतियों के स्थान की भिन्नता के साथ भी लागू होती है।

हम समकालीन संस्कृतियों की भिन्नता और उनके सामंजस्य वाले पहलुओं को अलग-अलग कर के देख सकते हैं। संस्कृतियों में कुछ चीज़ें ऐसी होती हैं जो उन्हें उनके पारिस्थितिकीय परिवेश से बिल्कुल बाँध कर रखती हैं। लोगों का भोजन और भूषा आवासीय व्यवस्था और काफ़ी हद तक कलात्मक अभिव्यक्तियाँ, जो उनके अंतरंग भावों को प्रतिबिम्बित करती हैं, उनके बिल्कुल नजदीकी परिवेश पर निर्भर करती हैं। भोजन न सिर्फ़ उपलब्धि के हिसाब से स्थानीय होता है बल्कि लम्बी अवधि की चयन प्रक्रिया में उन तत्त्वों का समावेश भी करता है जो जलवायु के हिसाब से स्वास्थ्यकर होते हैं। हालाँकि ऐसे भोजन में कुछ तत्त्वों का अभाव भी हो सकता है जो स्थानीय खाद्य पदार्थों में उपलब्ध नहीं हों। यही बात भूषा और आवासीय व्यवस्था के साथ भी लागू होती है। वैसे वातावरण में जहाँ ठंड अधिक पड़ती है आवास और भूषा दोनों ही ऐसे

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

होंगे जो ठंड से बचायें। गर्म स्थानों में स्थिति ठीक विपरीत होगी—यानी आवास और भूषा गर्मी से बचाने की दृष्टि से विकसित किये जायेंगे। इसके अलावा प्राय: भूषा और आवास के लिए प्रयोग में आने वाली वस्तुएँ भी वैसी होंगी जो स्थानीय रूप से उपलब्ध होती रहें। इससे जीवन के लिए आवश्यक आवासीय वस्तुओं या वस्त्रों का अभाव नहीं पैदा होगा।

आदमी की भावनात्मक अभिव्यक्ति भी, जो अत्यंत ही अंतरंग है, अपने परिवेश के संदर्भ में ही हो सकती है। लेकिन ऐसी अभिव्यक्तियों में भी कुछ तत्त्व ऐसे ज़रूर होते हैं जो सार्वजनीन हों क्योंकि वे सभी आदमियों के अनुभव में आते हैं, चाहे वे दुनिया के किसी भी हिस्से में हों। इनमें मृत्यु का भय, प्रेम, विरह, ख़ुशी एवं स्थितियों के दबाव में आदमी की विवशता आदि की स्थितियाँ आती हैं। इन मानसिक स्थितियों को पैदा करने वाले ठोस कारण और मिथकीय रंगमंच अलग-अलग परिवेश में अलग-अलग हो सकते हैं, लेकिन ये अपने विशेष सांस्कृतिक परिवेश से परे जा दूसरी संस्कृतियों में रहने वाले लोगों को भी संप्रेषित हो सकती हैं। संसार के सर्वश्रेष्ठ साहित्यों और कलाओं की भाषा भी स्थानीय ही होती है लेकिन उनकी विशेषता यह होती है कि इनके कुछ तत्त्व परिवेश के दायरे को लांघ कर वैसे दूसरे समूहों तक भी पहुँचते हैं जिनके संप्रेषण की भाषा अलग है। दुनिया का महान साहित्य और महान कलाकृतियाँ इसी कोटि में आती हैं। इनके सार्वजनीन तत्त्व एक संस्कृति से दूसरी संस्कृति में स्थानांतरित हो दूसरी संस्कृतियों द्वारा आत्मसात किये जा सकते हैं। ऐसे उधार लिये गये तत्त्वों से भी संस्कृतियाँ समृद्ध हो सकती हैं अगर ये तत्त्व इस संस्कृति की मूल प्रवृत्ति के विपरीत नहीं हों। इसके अलावा इनसे अभिव्यक्ति के ऐसे कोड एवं माध्यम प्राप्त किये जा सकते हैं जिनसे अभिव्यक्ति अधिक प्रांजल और सशक्त हो सके। आधुनिक दुनिया में ऐसे उधार तत्त्व कला और साहित्य में चारों ओर देखे जा सकते हैं। फिर भी उधार तत्त्वों को पचाने की एक सीमा होती है जिससे आगे बढ़ने पर ये कला और साहित्य के मूल तत्त्व को नष्ट कर सकते हैं।

लेकिन संस्कृति का एक दूसरा आयाम जो मूलत: तथ्यात्मक, तार्किक और अवधारणात्मक है, कलाओं की तरह किसी परिवेश से बंधा नहीं होता। अपने परिवेश को समझने की प्रक्रिया से आगे बढ़ इसका रुझान सदा व्यापक और संसार के सभी परिवेशों को समझने का सार्विक आधार प्रदान करने का होता है। विज्ञान और दर्शन इसी कोटि में आते हैं। इनमें संस्कृतियों के पारस्परिक संपर्क से लगातार विकास होता रहता है। एक जाल के तंतुओं की तरह सभी तंतु संपूर्ण जाल में व्याप्त होते हैं। कहीं एक बिन्दु से शुरू होकर कोई भी तंतु अनेक फंदों से घूमता हुआ जाल के सभी हिस्सों में व्याप्त हो जाता है। इस दृष्टि से विज्ञान और दर्शन का चरित्र सार्विक होता है। इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि इसका कोई हिस्सा सिर्फ़ इसलिए ग्राह्य या त्याज्य है क्योंकि इसका उत्स स्थानीय या बाहरी है। अपने-पराये के भाव के पूर्वग्रह से देखने से विज्ञान और दर्शन के प्रति सही दृष्टिकोण नहीं बन पाता है। यही नहीं विभिन्न मानव

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

समूहों को भी बाहरी मान उनके प्रति हिकारत का भाव पैदा होता है। अतीत के ऐसे सांस्कृतिक तत्त्वों के आदान-प्रदान की जानकारी नहीं होने से हमारे यहाँ एक हीन भावना भी पैदा हुई है। लोग यह महसूस करते हैं कि आधुनिक ज्ञान-विज्ञान सब का सब पश्चिमी देशों का योगदान है। आज के विज्ञान की उपलब्धियों से चमत्कृत हो लोग मान लेते हैं कि पश्चिमी देशों के लोगों में बौद्धिक श्रेष्ठता है। ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र से आगे बढ़ हीनभावग्रस्त लोग सभी क्षेत्रों में पश्चिमी देशों के अंधानुकरण की तरफ़ झुकते हैं। हालाँकि विज्ञान और दर्शन के विकास पर नज़र डालने से ऐसा सोचना बिल्कुल आधारहीन लगता है। आगे कुछ ऐसे ही ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है।

आधुनिक युग को विज्ञान का युग कहा जाता है और विज्ञान की सभी शाखाओं में गणित की भूमिका सर्वाधिक महत्त्व की हो गयी है। भौतिक शास्त्र में तो, जिसे विज्ञान का हरावल दस्ता माना जाता है, गणित अवधारणात्मक आधार ही बन गया है। चूँकि पिछली चार शताब्दी में गणित एवं विज्ञान के शोध और विकास का केन्द्र पश्चिमी दुनिया बनी रही है, ऐसा समझा जाने लगा है कि वैज्ञानिक परंपरा उसी की संस्कृति की उपज है। लेकिन ऐसी सोच का ऐतिहासिक तथ्यों में कोई आधार नहीं। पश्चिमी दुनिया अपनी संस्कृति की निरंतरता को प्राचीन यूनान की संस्कृति से जोड़ देती है। लेकिन यह भी सच नहीं है। यूनान तो वर्तमान पश्चिमी संस्कृति के हाशिये पर है। मूल के हिसाब से भी यूरोप और अमेरिका की आबादी में यूनानियों का नगण्य स्थान है। ब्रिटेन, जर्मनी, फ्रांस, इटली एवं अमेरिका में, जो विज्ञान और तकनीकी के क्षेत्र में आज आगे बढ़े हुए हैं, उस मूल के लोगों की बहुलता है जो यूनानी सभ्यता के उत्कर्ष के काल में बर्बर माने जाते थे—यानी उत्तरी यूरोप के जर्मन कहे जाने वाले कबायली समूह जिनमें एंगेल्स, सैक्शन, फ्रैंक, गोथ, वंडल, लोम्बार्ड, अलेमानी, बैवेरियन, डेन, नॉर्मन आदि आते थे। प्राचीन दुनिया में इनकी एकमात्र उपलब्धि थी चौथी से सातवीं शताब्दी के बीच अपने हमलों के सिलसिले से रोमन साम्राज्य को नष्ट करना और सारे यूरोप से अपने से पहले के बाशिंदों को खदेड़ कर उनके भूभागों पर कब्जा जमाना। ईसाई धर्म के प्रचार ने पूरब से प्राप्त मानवीय मूल्यों से अवगत करा कम से कम सतही रूप से इन कबायली समूहों को सुसंस्कृत किया। लेकिन प्रारंभ की छठी शताब्दी तक दर्शन के नाम पर इनमें ईसाइयत के अंधविश्वासी पहलू ही प्रचारित होते रहे। इस वातावरण में प्राचीन यूनान की उन्मुक्त विचार प्रणाली के प्रसार पर, जिसमें विज्ञान और दर्शन का आश्चर्यजनक विकास हुआ था, विराम-सा लग गया था। ईसाई धर्मगुरुओं में तरह-तरह के विवाद ईसाई धर्म की विविध व्याख्याओं को लेकर होते रहे और इनके बर्बर चरित्र के कारण अक्सर विवादों का अन्तिम फ़ैसला तलवार के बल पर होता था। यूनान के वैज्ञानिक सोच का इनके लिए कोई महत्त्व नहीं था। सिर्फ़ प्लेटो के प्रत्ययवादी विचार और अरस्तू के कुछ वैसे विचार जो सृष्टि के नियमों को दोषहीन और अपरिवर्तनीय होने के विश्वास का समर्थन करते थे इनके लिए ग्राह्य थे। इन तथ्यों से इनकी क्षमता पर प्रश्नचिह्न नहीं लगता है और आगे चल कर इन्होंने संस्कृति के क्षेत्र में निश्चित रूप से बड़ा योगदान

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

किया। इन बातों की ओर ध्यान सिर्फ़ इसलिए दिलाया गया कि यह भ्रम दूर हो कि आज की पश्चिमी सभ्यता प्राचीन यूनान की सभ्यता की निरंतरता है।

प्राचीन यूनान में ज़रूर गणित, विशेषकर रेखागणित, ज्योतिष दर्शन और विज्ञान की एक अद्‌भुत परंपरा थी। लेकिन इसमें उत्तरी अफ्रीका और पश्चिमी एशिया की सभ्यताओं से निरंतरता थी। आगे चल कर अरबों के माध्यम से यूरोप में पहुँच कर उनके ज्ञान ने वैचारिक क्रान्ति ला दी थी। जैसा कि बताया गया है यूनान वैचारिक सोच का द्वीप नहीं था। यूनान का सबसे प्रथम और महत्त्वपूर्ण दार्शनिक और गणितज्ञ थल्स था। उसका समय 636 से 546 ई. पू. अनुमानित है। वह माइलेटस का रहने वाला था और 585 ई. पू. में उसने सूर्यग्रहण की सही भविष्यवाणी की थी। लेकिन गणित और ज्योतिष शास्त्र का यह ज्ञान उसने टाइग्रिस और युफ्रेट्स नदियों की घाटी के प्राचीन नगर बैबिलोन में प्राप्त किया था। इसके अलावा यूनान के रेखागणित पर मिस्र की प्राचीन सभ्यता का भी असर पड़ा था। मिस्र में रेखागणित के सिद्धांतों का विकास तो नहीं हुआ था लेकिन क्षेत्रमिति का काफ़ी विकास हुआ था क्योंकि नीलघाटी में कृषि के लगान के लिए सरकारी पैमाइश की एक बृहत् प्रणाली थी। क्षेत्रमिति से ज्यामिति की ओर संक्रमण एक स्वाभाविक प्रक्रिया थी। इस तरह यूनान के गणित के विकास में मिस्र और बैबिलोन का काफ़ी हाथ था। फिर आगे चल कर सिकन्दर की मिस्र पर विजय के बाद सिकन्दरिया विद्या का बड़ा केन्द्र बन गया जहाँ यूनानी ज्योतिष और गणित का काफ़ी प्रभाव था। यहीं कालान्तर में टोलेमी ने ज्योतिषशास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान किया। हालाँकि भारत के साथ यूनान का संपर्क काफ़ी प्राचीन था और दोनों में स्वतंत्र रूप से गणित और ज्योतिष का विकास एक-दूसरे से थोड़ी भिन्न दिशा में हुआ था, उनका प्रभाव इस क्षेत्र में एक-दूसरे पर नहीं पड़ा। अपस्तम्ब के सूत्र में समकोण त्रिभुज के भुजाओं के इस संबंध, $a^2+b^2=c^2$ का उल्लेख है जो लगभग उसी समय के पाइथागोरस के साध्य में सिद्धान्त रूप में सिद्ध किया गया था। लेकिन दोनों ही जगह यह ज्ञान स्वतंत्र रूप से विकसित हुआ था। इस बात का उल्लेख टी.एल. हीथ ने अपने 'मैनुअल ऑफ ग्रीक मैथेमैटिक्स' में किया है। यूनान में सामोस के गणितज्ञ आरिस्टारकस (310-239 ई. पू.) ने पहले-पहल यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि धरती सूरज के चारों तरफ़ घूमती है और साथ ही यह अपनी धुरी पर भी घूमती है जिससे रात और दिन होते हैं। लेकिन स्वयं यूनान और सिकन्दरिया में यह सिद्धान्त नज़रअंदाज किया जाता रहा। भारत में तो इसकी कोई जानकारी नहीं हो पायी। लेकिन आर्यभट्ट ने (476-550 ई.) में स्वतंत्र रूप से सूर्य सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें सूर्य को केन्द्र में रख कर नक्षत्रों के समय और गति का अध्ययन किया गया था। यह सिद्धान्त कोपरनिकस से लगभग आठ सौ वर्ष पहले प्रतिपादित किया गया। यूरोप में उस समय धार्मिक अंधविश्वास और आतंक का ऐसा माहौल था कि कोपरनिकस ने इस सिद्धान्त को महज एक कौतूहल के रूप में पेश किया था। प्रयोगों से इस सिद्धान्त को सिद्ध करने का घोर परिणाम गैलीलियो को भुगतना पड़ा। उसे चर्च के अधिकारियों द्वारा गिरफ़्तार किया गया, घोर यातनाएँ दी गयीं और अंततः यह वक्तव्य देने को विवश किया गया कि उसका सिद्धान्त ग़लत है।

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

भारत और यूनान के गणित एवं ज्योतिष का ज्ञान अरबों के माध्यम से काफ़ी देर से एक जगह आये और इनके प्रभाव से वहाँ इनका तेज विकास हुआ। दरअसल यूरोप में सतरहवीं शताब्दी से गणित और विज्ञान के विकास में एक उफान दिखाई देने के पीछे भारत, चीन, मिस्र, अरब और यूनान इन पांच देशों के पूर्व अर्जित ज्ञान का इकट्ठा होना और समन्वित होना है। छठी शताब्दी तक भारत का गणित इतना विकसित हो चुका था कि ए.सी. क्रोम्बी[1] के अनुसार, 'यूनानियों के रेखागणित के बदले हिन्दू गणितज्ञों ने जिनमें आर्यभट्ट (जन्म 476 ई.), ब्रह्मगुप्त (जन्म 598 ई.) और भाष्कर (जन्म 1114) सबसे महत्त्वपूर्ण थे, अंकों की एक ऐसी पद्धति विकसित की थी जिसमें किसी अंक का मान उसके स्थान से निर्धारित होता था। उन्हें शून्य का ज्ञान था, वे वर्गमूल और घनमूल निकाल सकते थे, वे भिन्न से अवगत थे, सूद की समस्या से अवगत थे, अंकों की शृंखला (सीरीज) का अंकगणितीय और बीजगणितीय योग निकाल सकते थे, प्रथम और दूसरे डिग्री के निश्चित और अनिश्चित समीकरणों का हल निकाल सकते थे, परम्युटेशन और कम्बीनेशन तथा अंकगणित और बीजगणित की दूसरी क्रियाओं से अवगत थे। उन लोगों ने नक्षत्रों की चाल को मापने के लिए त्रिकोणमितीय विधि विकसित कर ली थी और साइन का त्रिकोणमितीय टेबुल भी तैयार कर लिया था। शून्य और संख्या की दशमलव पद्धति भारत की ऐसी खोज थी जो गणित के विकास के लिए युगान्तरकारी कही जा सकती है।

यूनान ने रेखागणित के सिद्धान्तों के अलावा समकोण 'शंक' को अलग-अलग कोणों से काट कर इन कटे हिस्सों से बने आकारों (कोनिक सेक्शन) के ज्यामितीय संबंधों का विस्तृत अध्ययन किया था। ऐसी कटी हुई सतह को घेरने वाली रेखा वृत्त, एलिप्स, पाराबोला और हाइप बोला बनाती थी। इन में वृत्त के विविध हिस्सों के संबंधों से तो लोग परिचित थे और इनके गणितीय संबंधों एवं क्षेत्रफल (वर्गीकरण) से संबद्ध काफ़ी अध्ययन हो चुके थे लेकिन इस तरह निर्मित बाकी तरह के आकारों के संबंधों को नियमबद्ध करना ज़्यादा कठिन था, हालाँकि आगे चलकर ज्योतिष और प्रकाश (ऑप्टिक्स) तथा भौतिक शास्त्र के दूसरे सिद्धान्तों के लिए इनका बहुत ही महत्त्व था। लेकिन यूनान के गणितज्ञों के लिए इन सभी आकारों को गणितीय सिद्धान्त में बांधना उस समय संभव नहीं था क्योंकि वे बीजगणित से अवगत नहीं थे। भारत और यूनान की उपलब्धियों तथा स्वयं अपनी उपलब्धियों को एक स्थान पर लाने का ऐतिहासिक काम आगे चलकर अरब गणितज्ञों ने किया जिससे गणित और विज्ञान का एक नया युग शुरू हुआ।

अरबों की भूमिका इसलिए ख़ासतौर से महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि यूनान और भारत दोनों ही अपनी प्रतिभा के चरमबिंदु पर पहुँच कर गतिरोध और गिरावट की तरफ़ जा रहे थे। यूनान का बौद्धिक विकास सिकन्दर के साम्राज्य के फैलने के बाद शिथिल पड़

---

1. A. C. Crombie, Science in the Middle Ages, Augustine to Galileo, 5th to 13th Centuries, Peregrine Book, 1969, p. 65

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

गया। इतिहास में अक्सर ऐसा हुआ है कि जब कोई समाज साम्राज्य बना अपना भौतिक विस्तार करने लगता है तो उसकी बौद्धिक और आध्यात्मिक ऊर्जा सिकुड़ने लगती है। आर्किमिडीज (287-212 ई. पू.) यूनान का अन्तिम महान गणितज्ञ और वैज्ञानिक हुआ। उसके बाद अध्ययन का क्षेत्र खिसक कर मिस्र के नगर सिकन्दरिया चला गया, जहाँ कई सदियों तक यूनानी गणित और ज्योतिष की परम्परा जीवित रही। स्वयं यूनान रोमनों के कब्जे में चला गया और रोमनों की दिलचस्पी अपना साम्राज्य फैलाने एवं कानून व्यवस्था तथा निर्माण में अधिक थी, विज्ञान में कम। भारत में भी गुप्तकाल के बाद से गणित और दूसरे शास्त्रों का विकास धीमा होने लगा। इसके बाद का समय धार्मिक विवादों और धर्म-दर्शन के संकलन के साथ अनेक धार्मिक संप्रदायों के विकास का काल था जिनके प्रभाव में तरह-तरह के अंधविश्वास फैलने लगे। जब ग्यारहवीं शताब्दी में अलबेरूनी भारत आया था उस समय तक बौद्धिक गिरावट काफ़ी हो चुकी थी। अलबेरूनी ने अपने वृत्तांत में जहाँ भारतीय ज्योतिषशास्त्र की उपलब्धियों की काफ़ी तारीफ की है और लिखा है कि वह यूनान की अपेक्षा ज़्यादा उन्नत था, वहीं इस बात का भी ज़िक्र किया है कि अब इस की प्रगति रुक गयी है और लोग अंधविश्वासी हो रहे हैं।

अरब दुनिया में नयी चेतना का उभार इस्लाम के उत्स के बाद से सातवीं सदी के प्रारंभ से शुरू हुआ। इस्लाम की मुख्य भूमिका अरब में फैले अनेक कबीलाई समूहों को एक धर्म के सूत्र में बांधने की थी। लेकिन उनकी संस्कृति की पृष्ठभूमि उनकी विशेष भौगोलिक स्थिति से तैयार हुई थी। अरब दुनिया उस समय पूरब और पश्चिम के व्यापार के मध्य मार्ग पर स्थित थी। सिकन्दर और उसके पहले फारस के साम्राज्य विस्तार के क्रम में यूरोप और एशिया के जो विशाल क्षेत्र एक-दूसरे के संपर्क में आये थे उनके बीच व्यापारिक संबंध अरब, इराक, सीरिया एवं सिकन्दरिया में बसने वाले अरबों के द्वारा ही कायम रखा गया था। व्यापारिक संबंध के साथ-साथ एक-दूसरे के रहन-सहन, विचार और ज्ञान इन सब की पारस्परिक जानकारी भी बढ़ी। स्वयं हजरत मुहम्मद एक व्यापारी थे और अपने व्यापारिक कार्यों के सिलसिले में ही ईसाई और यहूदी समूहों के संपर्क में आये, जिनके धर्मों का काफ़ी प्रभाव उनके अपने धार्मिक विचारों पर पड़ा था। इससे इस्लाम द्वारा सूत्रबद्ध किये गये अरबों के नये राज्यों में दूसरों के ज्ञान-विज्ञान के प्रति अद्‌भुत सहिष्णुता और उन्हें ग्रहण करने की विलक्षण उत्कंठा थी। इस तरह सातवीं से लेकर तेरहवीं शताब्दी के बीच उन्होंने पूरब में चीन और भारत से लेकर पश्चिम में यूनान तक के सभी दर्शन और विज्ञान को आत्मसात करने की कोशिश की। सिकन्दरिया, बगदाद, दमिश्क तथा स्पेन का कारडोवा साहित्य, दर्शन और विज्ञान के अध्ययन और प्रसार के प्रमुख केन्द्र बन गये। बगदाद के खलीफा हारुन-अल-रशीद (785-809 ई.) ने तो बाजाप्ता अनुवादकों के स्कूलों की स्थापना की और कुस्तुंतुनियाँ और अन्य स्थानों से पांडुलिपियाँ प्राप्त कर उनका अनुवाद करवाया। ज्ञानार्जन की इस व्याकुलता का अंदाज हम इस बात से कर सकते हैं कि आधुनिक भारत के वर्तमान शासकों ने, जिनके संसाधन उस काल के अरबों की तुलना में विशाल हैं,

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दुनिया के ज्ञान को अनुवाद के द्वारा अपने देशवासियों को उपलब्ध कराने का कोई ऐसा प्रयास नहीं किया है जबकि हम ऐसे युग में रह रहे हैं जिसे 'एज ऑफ इनफारमेशन' (सूचनाओं का युग) कहा जाता है।

बगदाद के दूसरे खलीफा मामुन महान (813-833 ई.) के विषय में यह उल्लिखित है कि वाइजेन्टाइन (यूनानी दुनिया का एक अंग) का एक गणित का विद्यार्थी मुसलमानों द्वारा बन्दी बना ग़ुलाम के रूप में बगदाद लाया गया। एक दिन बातचीत में उसके स्वामी ने खलीफा मामुन की रेखागणित में दिलचस्पी की बात कही। उस पर इस विद्यार्थी ने इच्छा ज़ाहिर की कि वह मामुन के साथ वहाँ के शिक्षकों की गणित संबंधी वार्ता सुनना चाहता है। मामुन ने काफ़ी दिलचस्पी से उसे अपने महल में बुलाया। हालाँकि मामुन के गणितज्ञ त्रिभुज एवं वर्ग आदि की बनावट और युक्लिड की शब्दावली के संबंध में अच्छी जानकारी रखते थे, वे साध्यों को साबित करने के सिद्धान्त से अनभिज्ञ थे। जब इस विद्यार्थी ने सिद्धान्त से किसी साध्य को सिद्ध करके दिखला दिया तो मामुन बहुत ही प्रभावित हुआ और उस विद्यार्थी से उसके शिक्षक के संबंध में पूछा। इस विद्यार्थी ने बतलाया कि उसके शिक्षक लीयों काफ़ी ग़रीबी की स्थिति में रहते हैं। मामुन ने उसे अपने शिक्षक को बुलाने को भेजा और वायदा किया कि उसे ऊँचा पद और अच्छी तनख्वाह दी जायेगी। लेकिन वाइजेन्टाइन के शासक इसके लिए तैयार नहीं हुए, इसके बावजूद कि मामुन हज़ार डालर मूल्य का सोना बदले में वाइजेन्टाइन के शासक को देने को तैयार था। इस कहानी से कुछ पता चलता है कि अरब शासकों में विद्या का कितना आदर था।

इन प्रयासों का फल यह हुआ कि यूनानी और भारतीय गणित, विज्ञान और दर्शन के सभी प्रमुख विचारों का अरबी में अनुवाद हुआ जिससे बाद में यूरोप में ये पुनः लैटिन अनुवादों के जरिये उपलब्ध हुए। अल-ख्वारिज्मी से अंकगणित, त्रिकोणमिति एवं अलजेबरा का ज्ञान, जो भारत से प्राप्त हुए थे, यूरोपवासियों को प्राप्त हुए। अल-ख्वारिज्मी की देन यूरोपीय गणित के लिए इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि उसी के नाम के अपभ्रंश से 'आल्गोरिज्म' शब्द यूरोप की भाषाओं में आया जिसे आज भी सभी गणितीय प्रक्रियाओं के लिए व्यवहार में लाया जाता है। अविसेना और ऐवरोज ने अरस्तू के अलावा सुकरात के पूर्व काल के अनेक यूनानी दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों की रचनाओं का अरबी में अनुवाद किया जिससे बाद में यूरोप में इनकी जानकारी हुई। गणित और दर्शन के अलावा अरबों ने चिकित्सा संबंधी ज्ञान, रसायन और भौतिकशास्त्र का अनुवाद किया एवं मौलिक रचनाएँ अरबी में कीं। ये ही ज्ञान यूरोपीय पुनर्जागरण काल में यूरोप के बौद्धिक विकास के आधार बने। अरबों ने चिकित्सा के क्षेत्र में, रसायन के क्षेत्र में और प्रकाश से संबंधित 'ऑप्टिक्स' के क्षेत्र में स्वयं अनेक मौलिक शोधकार्य किये थे, जो सब अरबी से लेटिन में अनुवाद से यूरोप के लोगों को प्राप्त हुए।

यूरोप में अरबों के माध्यम से यूनान, भारत एवं अन्य भागों से संकलित ज्ञान के प्रसार और विकास के पीछे दो कारण काम कर रहे थे। एक तो स्पेन और बाइजैन्टाइन

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

साम्राज्य के बड़े हिस्से पर अरबों के आधिपत्य से यूरोपीय लोगों का एक उत्कृष्ट संस्कृति और वैज्ञानिक सोच से साक्षात्कार हुआ। इस काल में यूरोप का अरब दुनिया से व्यापारिक संबंध भी बढ़ा। जब मुस्लिम आधिपत्य से जेरूसेलम तथा यूरोप के अन्य भागों को मुक्त कराने के लिए क्रुसेड (धर्मयुद्ध) का सिलसिला शुरू हुआ जो ग्यारहवीं से शुरू होकर चौदहवीं शताब्दी तक चलता रहा, यूरोप के उन राजाओं और सिपाहियों को, जो इस युद्ध में हिस्सा ले रहे थे, इस्लाम के भीतर की वैचारिक स्वतंत्रता और सभी तरह के ज्ञान को ग्रहण करने वाली एक जीवंत सभ्यता का दर्शन हुआ। इसने उनके सामने से उस परदे को हटा दिया जिससे यूरोप धर्मांधता के अंधकार में जी रहा था। इससे स्वयं यूरोप के ईसाई धर्मगुरुओं में, जिनके माध्यम से ही यूरोप में शिक्षा का प्रचार हो रहा था, वैज्ञानिक सोच का रुझान बढ़ा। स्पेन में टोलेडो अरबी से लैटिन अनुवाद का बड़ा केन्द्र बन गया। इसके अलावा इस नये प्रभाव के कारण यूनानी भाषा से भी सीधे लैटिन में अनुवाद शुरू हुए। 1204 ई. में बाइजैन्टाइन के पुन: यूरोपियनों के कब्जे में आ जाने पर वहाँ पर पुराने ज्ञान का संचित भंडार ही यूरोपियनों के हाथ लग गया और बड़े पैमाने पर अरबी और यूनानी भाषाओं से यूरोपीय भाषाओं में अनुवाद का काम शुरू हुआ। इसके अलावा अरबों के प्रभाव में 'आलकेमी' के प्रति रुझान बढ़ा। यह रासायनिक प्रयोग का एक ऐसा क्षेत्र था जिसके पीछे यह विश्वास था कि दूसरी धातुओं को सोने में बदला जा सकता है। हालाँकि बाद में यह साबित हुआ कि ऐसा होना संभव नहीं है, इन प्रयोगों ने जिनकी प्रक्रियाएँ आधुनिक शोध प्रक्रियाओं जैसी ही थीं, रसायन शास्त्र के विकास में बहुत योगदान दिया। 'ऑप्टिक्स' के प्रयोगों से चश्मा बनाने की शुरूआत हुई और इन्हीं प्रयोगों के परिणामस्वरूप बाद में दूरबीन और खुर्दबीन का विकास हुआ। दसवीं शताब्दी के फारस के डाक्टर हे अब्बास के इनसाइक्लोपीडिया से प्राचीन यूनान के चिकित्साशास्त्र के विज्ञान एवं गैलेन और हिपोक्रेट्स के ज्ञान यूरोपीय विद्वानों को प्राप्त हुए। इसके बाद से वनस्पति शास्त्र और शल्य चिकित्सा दोनों में खोज शुरू हुई। इस तरह यूरोप में नये ज्ञान-विज्ञान की आधारशिला रखी गयी।

सतरहवीं सदी के प्रारम्भ में रेने देकार्त (1596-1646) एवं पीयरे द फरमा (1601-1665) ने बीजगणित और रेखागणित को जोड़ कर कोऑरडिनेट ज्योमेट्री या ऐनालिटिकल ज्योमेट्री (विश्लेषणात्मक रेखागणित) को जन्म दिया। यह गणित और विज्ञान के लिए एक महान उपलब्धि थी। इससे आगे बढ़ कर फरमा ने 'फंक्शन' और 'कैलकुलस' के सिद्धान्तों को जन्म देकर भौतिक क्षेत्र या समाज की सभी प्रक्रियाओं को गणित की परिधि में ला दिया। इसके बाद से हम विज्ञान के आधुनिक युग में प्रवेश करते हैं। न्यूटन से लेकर गौस और आइन्सटाइन तक सभी ने गणित के इसी आधार को विस्तृत कर धरती से आकाश तक की सभी भौतिक प्रक्रियाओं को शास्त्रीय नियमों में बांधने का प्रयास किया। इस तरह यह क्षेत्र, जिसे हम आधुनिक पश्चिमी विज्ञान और गणित कहते हैं, मूलत: चीन, मिस्र, बैबिलोन, भारत, यूनान और अरब की प्राचीन उपलब्धियों पर खड़ा है और उसमें कहीं कुछ यूरोपीय नहीं है। यह इन सभी देशों के मनीषियों के प्रयासों की निरंतरता दरसाता है। यूरोप का जो सबसे महत्त्वपूर्ण अनुदान इस क्षेत्र में है वह है

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

नियंत्रित प्रयोगों की परंपरा। मध्ययुगीन यूरोप के आलके मिस्टो ने प्रयोगों का जो सिलसिला शुरू किया था वह गैलीलियो में अपनी संपूर्णता हासिल करता है और अंधविश्वासों से मुक्ति पाता है। यह एक विडम्बना ही है कि स्वयं गैलीलियो को चर्च के अंधविश्वासी पुरोहितों का कोपभाजन बन यातनाएँ झेलनी पड़ीं।

तकनीकी के क्षेत्र में भी यूरोप के अनेक उपकरणों का उत्स उसका अरबों से संपर्क ही था। आधुनिक सभ्यता के प्रसार में पुस्तकों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। बड़े पैमाने पर पुस्तकों की छपाई हुई ताकि वे आम लोगों को उपलब्ध हो सकें, यह इस सभ्यता की विशिष्टता रही है। लेकिन कागज और छपाई की कला दोनों ही पूरब की देन हैं। कागज का नाम 'पेपर' तो मिस्र के पेपिरस पौधे से लिया गया है जिसके तनों का उपयोग पहले कागज की जगह लिखने के लिए होता था। लेकिन बाद में वैसा टिकाऊ कागज जिस पर छपाई हो सके चीन में बनना शुरू हुआ, जहाँ यह तीसी के रेशे से बनता था। चीन में ही ब्लॉक बना कर छपाई करने की कला विकसित हुई। वहीं से यह कला यूरोप आयी। पहले लकड़ी के ब्लॉक से, बाद में धातुओं के ब्लॉक से और अंत में शीशे के अक्षरों को ढाल छपाई का काम शुरू हुआ। बाद में अन्य मशीनों के परिष्कार के साथ छपाई की मशीनों की क्षमता भी बढ़ती गयी। इसी तरह चुम्बक के उत्तर दिशा की तरफ़ इंगित करने के गुण की जानकारी चीनियों को थी। इनके संपर्क से अरब दुनिया ने जहाजरानी के लिए कंपास की ईजाद और उसका इस्तेमाल करना शुरू किया। यूरोप में इसकी जानकारी बारहवीं शताब्दी के अंत में हुई। बारूद, जिसके बल पर यूरोप के देशों ने दुनिया के बाकी देशों विशेषकर अमेरिका पर कब्जा किया, चीन द्वारा ही ईजाद की गयी थी। बारूद के हथियार भी चीन में यूरोप से लगभग सौ साल पहले तेरहवीं शताब्दी में बनने लगे थे। बारूद की जानकारी यूरोपीय देशों को संभवतः मंगोलों के माध्यम से हुई। पनचक्की (वाटरमिल) का इस्तेमाल तो सुमेरिया में यूरोप से हज़ारों साल पहले होता था जिसे यूरोप में उन्नीसवीं शताब्दी तक कपड़ा उद्योग तथा अन्य उद्योगों में इस्तेमाल किया जाता था। इसी तरह पवनचक्की (विंडमिल) का ज़िक्र अरब लेखकों ने दसवीं शताब्दी में किया है जिनके अनुसार इनका प्रयोग फारस में किया जाता था। इन मिलों का प्रयोग बतलाता है कि प्राचीनकाल में एशिया के लोगों को मशीन के सिद्धान्तों की समुचित जानकारी थी। कुल मिलाकर हम देख सकते हैं कि विज्ञान या तकनीकी के क्षेत्र में जिसे हम आधुनिक कहते हैं एशियाई लोगों या भारतवासियों के लिए कुछ भी पराया या विजातीय नहीं है। आज जो कुछ भी पश्चिम से आ रहा है उसकी बुनियाद में वे जानकारियाँ ही हैं जो कभी चीन, भारत, मिस्र, ईरान, इराक और यूनान से पश्चिमी यूरोप के लोगों ने प्राप्त की थीं।

भारत के लिए जहाँ वस्तुपरक इतिहास-लेखन की अपनी परंपरा नहीं रही है, यह जानना दिलचस्प होगा कि इतिहास लेखन पश्चिमी दुनिया की ही देन नहीं है। वैसे यूनान में हेरोडोटस से इतिहास-लेखन की परंपरा शुरू होती है। लेकिन उस समय के इतिहास-लेखन में सुनी सुनायी बातों और अतिरंजनाओं का पुट भी रहा है। यूरोप में

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
वस्तुपरक इतिहास-लेखन बहुत हाल की चीज़ है। अरबों ने वस्तुपरक इतिहास-लेखन की परंपरा बहुत पहले शुरू की। इब्बन खाल्दुन (1332-1406) ने तो जो सिद्धान्त इतिहास-लेखन के स्थापित किये उनसे आज तक इतिहासकार आगे नहीं जा सके हैं। इब्बन खाल्दुन ने इतिहास-लेखन में भूल के निम्नलिखित सात कारण बतलाये :

वैसे तो सभी रेकार्ड स्वभाव से ही भूल को स्थान देते हैं लेकिन पहला कारण किसी विचारधारा के प्रति पक्षपात होता है जिससे इसके पक्ष की सभी बातों को बिना परीक्षा कबूल कर लिया जाता है। दूसरा कारण, अपनी जानकारी के स्रोत पर अत्यधिक भरोसा करना होता है। तीसरा कारण स्थिति को सही तरह से समझने में अक्षमता का होना है। चौथा कारण सचाई के संबंध में ग़लत विश्वास का होना है। पाँचवाँ कारण घटना को उसकी सही पृष्ठभूमि में रखने की असमर्थता है। छठा कारण जो ऊँचे ओहदे पर हैं उनका कृपाभाजन बनने की इच्छा है, और सातवाँ और सबसे महत्त्वपूर्ण भूल का कारण समाज में होने वाले परिवर्तनों के कारण को समझने की असमर्थता है।

इब्बन खाल्दुन के विचारों का ज़िक्र करना इसलिए ज़रूरी लगा कि इस्लाम के प्रसंग में इसकी उदारता और वस्तुपरकता की चर्चा हमारे यहाँ शायद ही होती है। हमारे देश में आमतौर से यह विचार पाया जाता है कि मुसलमान बहुत ही धर्मांध और कट्टर होते हैं। हकीकत तो यह है कि तथ्यों के संबंध में हिन्दुओं की दृष्टि ज़्यादा त्रुटिपूर्ण रही है। अक्सर हम परंपरा से आये मिथकों को ऐतिहासिक सत्य मानकर चलते हैं। अपने अतीत के संबंध में हमारे ज्ञान का अपना स्रोत पुराण रहे हैं जिनमें तथ्यों और मिथकों का भयंकर घालमेल है। हमारे अतीत के संबंध में जो भी वस्तुपरक इतिहास हमें उपलब्ध है उसके स्रोत विदेशी यात्रियों के यात्रा वृत्तांत या विदेशी इतिहासकार रहे हैं। पुराणों में आदर्श स्थितियों का मनोनुकूल वर्णन रहने से वह मन को तुष्ट करने वाला होता है। लेकिन इससे सबक ले कोई नीति तय करने में भटकाव का भी भय बना रहता है।

मुसलमानों की कट्टरता की जो धारणा बनी है उसका एक कारण यूरोपीय लेखकों और शासकों का प्रचार भी है। एक दूसरा कारण यह है कि भारत में जो मुसलमान बाहर से आये उनमें पिछड़े इलाकों के तुर्क एवं अफगान कबीलों के लोग ही ज़्यादा थे और संभव है कि सभी पिछड़े समूहों की तरह धर्म के प्रति इनमें भी अंधभक्ति और नासमझी दोनों का समावेश रहा हो और इससे इनके कुछ शासक कट्टर भी रहे हों। कुछ तथ्य ज़रूर इस कट्टरता की बात का पोषण करते हैं। लेकिन कुल मिलाकर ज़्यादातर मुस्लिम शासक उदार और न्यायप्रिय थे। मुगल शासक, जिन पर ईरान की सभ्यता का प्रभाव था, तो समय के हिसाब से बहुत ही सहिष्णु और प्रबुद्ध थे। अपने पूर्वग्रहों और यूरोपीय प्रचार दोनों के कारण हम इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते। जब हम बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव पर विचार करते हैं तो ऐसे पूर्वग्रहों से मुक्त होकर ही कोई वस्तुपरक दृष्टि अपना सकते हैं।

विज्ञान और तकनीकी की अंत:प्रेरणा, भावनाओं से मुक्त हो तथ्यों और तर्क के आधार पर विकसित होने की होती है। इससे स्थानांतरण से नये तथ्यों को समाहित कर

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ये सदा ऊपर की तरफ़ बढ़ते हैं और सार्वजनीन सिद्धान्तों को जन्म देते हैं। इसीलिए इनकी ग्राह्यता में स्थानीय भावनाएँ आड़े आती हैं। लेकिन जैसा कि पहले कहा गया है कलाओं, भोजन और भूषा के साथ यह बात लागू नहीं होती। इनकी स्थानीय विशिष्टताएँ होती हैं। इसके बावजूद अरब दुनिया ने पश्चिम की दुनिया को इन क्षेत्रों में भी काफ़ी प्रभावित किया। कथा साहित्य एवं काव्य और संगीत के क्षेत्र में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अरब दुनिया ने पूरब की कला विधाओं और उनकी विद्याओं की संचित निधियों का दर्शन यूरोप को कराया। 'अरेबियन नाइट्स' के माध्यम से यूरोप को फारस, भारत और अरब में प्रचलित कथा साहित्य का ज्ञान हुआ। अरबों की प्रेम कविताओं का प्रभाव स्पेन के माध्यम से 'त्रुबादोर' नाम से ख्यात काव्य परंपरा पर पड़ा, जो यूरोप में रोमांटिक प्रेम की काव्य परंपरा की जड़ में रही है। कहा जाता है कि यूरोप का 'मौरिस नृत्य' वास्तव में मूरिस नृत्य ही है। 'मूर' नाम स्पेन के मुस्लिम शासकों के लिए प्रयोग किया जाता था। इसी तरह ल्युत, ताम्बोरीन, गीतार तथा फैनफेयर आदि वाद्ययंत्रों के नाम अरबों से लिए गये हैं और इन्हें अरबों द्वारा ही विकसित किया गया था। भारतीय साहित्य, स्थापत्य कला और भूषा पर तो यूनान से लेकर अरब और ईरान तक का बहुत ही गहरा प्रभाव पड़ा है। गुप्तकाल में विकास के शीर्ष बिंदु पर पहुँची गांधार कला तो निश्चित रूप से भारतीय और यूनानी कलाओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम थी। नाट्य विधा के संबंध में यूनान की देन का ज़िक्र पहले ही हो चुका है। चित्रकला के क्षेत्र में 'मिनियेचरों' (लघु चित्र) के विकास में ईरान का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। पोशाक में सिले वस्त्रों की परंपरा में कुर्ता, पायजामा, टोपी एवं शेरवानी के विविध रूपों के विकास पर भी भारत के उत्तर-पश्चिम के देशों का काफ़ी प्रभाव है। यह समझा जाता है कि वाद्ययंत्रों में प्राचीन वीणा और मृदंग के परिष्कृत रूप सितार और तबला दोनों का आविष्कार अमीर खुसरो ने किया था। नि:संदेह इसके पीछे अमीर खुसरो का पश्चिम एशियाई संपर्क रहा होगा। भारत की भाषाओं और साहित्य के विकास पर तो अरबी और फारसी का प्रभाव विवाद के परे है। ऐसा ही प्रभाव यहाँ के स्थापत्य पर भी पड़ा। गुंबज, मीनार, विशेष तरह के झरोखे आदि इसी के परिणाम हैं। दरअसल भारत की कला विधाओं और जीवन में पश्चिम एशियाई प्रभाव एक बहुत लम्बे आदान-प्रदान के कारण इतना घुलमिल गया है कि इसके तत्त्वों को अब अलग-अलग करके देखना असंभव है। अब ये सब भारतीयों की अंतरंग भावनाओं के अंग बन चुके हैं और इन्हें अलग कर विशुद्ध भारतीय क्या है, शरबत के स्वाद से उसको बनाने वाले विभिन्न तत्त्वों को अलग करके देखने जैसा है।

जो बातें ऊपर कही गयी हैं उनसे तो लगेगा कि संस्कृतियों में कहीं कुछ ऐसा नहीं है जो एक-दूसरे से नहीं लिया जा सके और अपना न बनाया जा सके। ऐसा इसलिए लगता है क्योंकि संस्कृति के जिन आयामों की चर्चा की गयी है वे मूलत: संस्कृति के सार्विक आयाम हैं—जैसे विज्ञान। तकनीकी के भी कुछ पहलू ऐसे हैं जिन्हें थोड़ा फेर-बदल से भिन्न परिवेश में उपयोगी बनाया जा सकता है। यहीं बात मनोरंजन के कुछ

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.
माध्यमों के साथ भी है। लेकिन संस्कृति के वे पहलू जो किसी समाज के लोगों के दैनन्दिन के कार्यों से संबद्ध हैं और लोगों को विशेष तरह के नैतिक बंधन में रखते हैं अपनी विशेष पृष्ठभूमि से बाहर अपनी प्रासंगिकता खो देते हैं। अरबों ने, जैसा हमने पहले देखा है, यूरोप की सोच और जीवन दोनों को गहराई से प्रभावित किया। लेकिन अपने पांच सौ साल के प्रभाव और प्रभुत्व के बावजूद वे यूरोप में लोगों का धर्मपरिवर्तन करने में असफल रहे। यह तब जब इस्लाम के मूल तत्त्व वे ही थे जो ईसाई धर्म या यहूदी धर्म के थे—यानी एकेश्वरवाद और ईश्वर के सर्वशक्तिमान होने में अटल विश्वास।

ऐसा क्यों हुआ ? ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि इस्लाम का धर्मग्रन्थ कुरान अपने को सिर्फ़ आध्यात्मिक बातों तक ही सीमित नहीं रखता। वह मुसलमानों के आपसी संबंधों, शादी-ब्याह के नियम, तलाक, लेन-देन, सूदखोरी, फौजदारी कानून आदि जीवन के सभी पहलुओं पर निश्चित निर्देश देता है। चूँकि कुरान शरीफ हजरत मुहम्मद के मुख से निकली बातों का संकलन है, इसमें किसी तरह का अदल-बदल निषिद्ध है। अरब के कबायली समूहों के बीच जनमे इस धर्म में जो इहलौकिक निर्देश थे वे उस समाज की विशेष समस्याओं को ध्यान में रख कर बनाये गये थे और कहीं न कहीं इनका उनकी परंपराओं से मेल था। इनको वैसे समाजों पर जस का तस लागू करना संभव नहीं था जहाँ सामाजिक ढाँचा, परम्परा और नियम-कानून अलग तरह के थे। यही कारण है कि अरब, इराक, सीरिया, मिस्र और उत्तर पश्चिम अफ्रीका के देशों में इस्लाम का प्रसार निर्बाध हुआ लेकिन इस सांस्कृतिक परिवेश के बाहर सीमित संख्या में ही लोगों ने इसे कबूल किया और अगर कबूल किया तो बिना अपने सामाजिक ढाँचे को इसके निर्देश के अनुसार बदले। यह समस्या इस्लाम के साथ दुनिया के दूसरे भागों में भी पैदा होती रही है। 'इस्लामिक फंडामेंटलिज्म' यानी इस्लामी चरमपंथ की समस्या सभी इस्लामी समाजों में भी आज इसीलिए है। कायदे-कानून, शादी-ब्याह के नियम आदि किसी समाज की पूरी परिस्थिति और पारिस्थितिकीय हकीकत पर निर्भर करते हैं। इसलिए आवश्यकता के अनुसार इन्हें बदलने का दबाव सभी समाजों में बना रहता है। सारे संसार में राजकीय और सांविधानिक विकास परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित करने के क्रम में हुए हैं। उन देशों में भी, जहाँ के बहुसंख्य लोगों ने इस्लाम को कबूल कर लिया है, परिवेश के दबाव में ऐसे परिवर्तन होते रहे हैं। लेकिन अगर समाज पर आर्थिक या दूसरे प्रतिकूल प्रभाव से लोगों में असंतोष पैदा होता है तो यह भाव पैदा होने लगता है कि शायद इस्लाम के प्रारंभिक कायदे-कानून या रीति-रिवाजों की तरफ़ लौट जाने से फिर 'स्वर्णयुग' लौट आयेगा। यह भाव ख़ासकर समाज के वंचित तत्त्वों में फैलता है। संभवतः यहाँ वही भाव काम करता है जिसकी बात कार्ल मार्क्स ने धर्म के संबंध में कही थी—यानी स्वर्ग की कल्पना समाज की एक उल्टी तस्वीर पेश करती है, जहाँ जो वंचित हैं सुख के भागी बनेंगे।

इस बिन्दु पर पहुँच कर हम अप-संस्कृति की एक समझ बना सकते हैं। अप-संस्कृति वही है जो जीवन में वैसे तत्त्वों को घोलती है जो लोगों के जीवन के लिए परिवेश

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

के हिसाब से प्रतिकूल स्थितियाँ पैदा करती है। ऐसे प्रभाव प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं और परोक्ष भी। प्रत्यक्ष रूप से हथियारों के विकास का रुझान और युद्ध की मानसिकता, चाहे वह राष्ट्र के नाम पर हो, मूल के नाम पर हो या धर्म के नाम पर, निर्विवाद रूप से जीवन को नष्ट करने वाली है और अप-संस्कृति है। परोक्ष रूप से ऐसी जीवन पद्धति, जो संसाधनों के अतिदोहन पर निर्भर करती है या मनुष्यों के स्वास्थ्य या संबंधों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है, अप-संस्कृति की श्रेणी में रखी जायेगी। इस दृष्टि से वर्तमान समाज की पूरी उपभोक्तावादी संस्कृति अप-संस्कृति की कोटि में आयेगी क्योंकि इससे संसाधनों का तेजी से क्षय होता है जिससे अंततः जीवन का आधार नष्ट हो जायेगा।

उपभोक्तावादी संस्कृति मानव जीवन की मूलभूत सीमाओं को नज़रअंदाज कर लोगों में उत्तरोत्तर अधिक से अधिक वस्तुओं को, उनकी विविधता में उपभोग के लिए उत्तेजित करती है। एक उदाहरण 'स्पेस टूरिज्म' का है जिसके संबंध में विकसित औद्योगिक देशों में यह कहा जाने लगा है कि भविष्य में यह वैसी ही आम चीज़ हो जायेगी जैसा आज पर्यटन है। जो इस तरह की बात करते हैं वे इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि आज हो या भविष्य में, अगर बड़ी संख्या में लोग अंतरिक्ष यात्रा करने लगे तो इसका बोझ उठाना धरती के उपलब्ध संसाधनों से संभव नहीं है। लेकिन आदमी की आकांक्षाएँ ऐसी होती हैं कि एक बार जग जाने पर वह कोई सीमा कबूल करने को तैयार नहीं होती। पर आज का सारा प्रचारतंत्र और विज्ञापन का विज्ञान ऐसी ही आकांक्षाओं के उद्दीपन में लगा हुआ है। बेबेल के टावर या रावण के स्वर्ग में सीढ़ी लगाने की आकांक्षा को तो हम मानव अहंकार की असंभव उड़ान के रूप में हास्यास्पद मान लेते हैं लेकिन अपने ही समय में आकांक्षाओं की ऐसी उड़ान के घातक परिणामों पर विचार नहीं करते। हम यह भूल जाते हैं कि हमारी धरती हमारे शरीर के पैमाने पर यद्यपि अति विशाल है पर वह एक सीमित नक्षत्र ही है। सीमित नक्षत्र से असीमित संसाधनों की अपेक्षा करना भौतिक शास्त्र के सबसे बुनियादी सिद्धान्त को नज़रअंदाज कर देना है कि पदार्थों और ऊर्जा की मात्रा में हम किसी भी विज्ञान से रंचमात्र भी बढ़ोतरी नहीं कर सकते। लेकिन इसी बात को भुला दिया जाता है। नतीजा है कि हम पिछले सौ वर्षों के भीतर ही संसाधनों के अतिदोहन और प्रदूषण से सारे प्राणी और वनस्पति जगत् को क्षय की तरफ़ अग्रसर कर रहे हैं।

ऐसा लगता है कि कार्बोनीफेरस युग (30 करोड़ वर्ष पूर्व) से वनस्पति एवं जीवों के विकास का जो एक चक्र चला वह मनुष्य की मूर्खता से विनाश-चक्र के रूप में पूरा होने वाला है। यह मूर्खता ऊपर के अर्थ में उसकी अप-संस्कृति में व्यक्त होती है। अनुमान किया जाता है कि कार्बोनीफेरस युग में धरती का ताप आज से लगभग 8 डिग्री सेल्सियस अधिक था। हवा में कार्बन-डायक्साइड एवं भाप का अंश बहुत अधिक था और दुनिया के विशाल क्षेत्र में जमीन दलदली थी। यह काल ऐसा था जिस में फर्नों के विशाल जंगलों से संसार ढंका हुआ था। इस हरियाली, ऊष्मा और आर्द्रता में विशाल छिपकलियों (रेप्टाइल) का विकास हुआ जिनका जल, थल और नभ तीनों पर साम्राज्य

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

था। लेकिन विशाल जंगलों की हरियाली का यह असर हुआ कि प्रकाश द्वारा संश्लेषण की प्रक्रिया (फोटोसिंथेसिस) से कार्बन-डायक्साइड का अनुपात हवा में कम होने लगा क्योंकि विशाल मात्रा में ऑक्सीजन उत्सर्जित होने लगी। इससे हवा में ऑक्सीजन का अनुपात लगभग वही हो गया जो वर्तमान काल में है। इस वातावरण में फूल और फल वाले पौधों और वृक्षों का विकास हुआ। क्रेटेसस काल (10 करोड़ वर्ष पहले) आते-आते विशाल फर्नों के जंगल नष्ट हो गये जिनके जमीन के नीचे दब जाने से हमारा आज का कोयला और तेल का भंडार जमीन के अंदर बना। इसी काल में विशाल छिपकलियाँ भी विलुप्त हो गयीं। इनके विलुप्त होने के अनेक कारण बताये जाते हैं लेकिन सब से सीधा और विश्वसनीय कारण यह लगता है कि उनके विशाल आकार के हिसाब से पुराने तरह के विपुल जंगलों के नष्ट होने से जीवन के लिए आवश्यक पोषक तत्त्वों का अभाव हो गया। यहाँ से स्तनपायी जीवों के विकास का वह सिलसिला चला जिसकी परिणति वर्तमान काल के अनेक स्तनपायी जीवों और स्वयं मनुष्य के विकास में हुई। लेकिन उपभोक्तावादी उन्माद में ऊर्जा, विशेषकर जीवाश्मित ऊर्जा स्रोतों, जैसे कोयला और पेट्रोलियम के अतिव्यय का सिलसिला चला। अब मनुष्य ने कोयला, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस को विशाल मात्रा में जलाकर फिर वायु में कार्बन-डायक्साइड का अनुपात बढ़ाना शुरू कर दिया है। कार्बन-डायक्साइड की मात्रा हवा में बढ़ने से जो धरती के ऊपर एक कम्बल की तरह काम करता है (ग्रीन हाउस इफेक्ट), संसार का ताप फिर बढ़ने लगा है। इससे दक्षिणी ध्रुव पर जमा विशाल हिम पर्वत, जो क्षेत्रफल में आस्ट्रेलिया जैसे महाद्वीप जैसा विशाल है, पिघल सकता है। ऐसा होने पर समुद्र का जलस्तर काफ़ी ऊँचा हो जायेगा और संसार के बहुत सारे तटीय देश जलमग्न हो जायेंगे और दुनिया का जलवायु बदल कर ऐसा हो जायेगा कि मनुष्य जैसे जीवों का अस्तित्व ख़तरे में पड़ जायेगा। पिछले वर्षों में तूफानों के बढ़ते वेग और प्रलयंकारी नतीजों को कुछ मौसम वैज्ञानिक बढ़ते ताप का नतीजा ही मानते हैं। लेकिन यह तो प्रकृति के प्रलयंकारी तेवर का शुरूआती दौर ही है।

जैविक विकास के इतिहास पर ध्यान देने से ऐसा लगता है कि विशालता अंततः जीवों के नाश का कारण बनती है। डाइनासोर का उदाहरण ऊपर दिया गया है। अस्सी फुट तक की लम्बाई और बीस से पचीस फुट तक की ऊँचाई हासिल कर रेप्टाइल परिवार के ये जीव दुनिया से लुप्त हो गये। इस परिवार में बचे रहे छोटे आकार के गिरगिट, मध्यम आकार के कछुए एवं घड़ियाल। स्तनपायी जीवों में मैमथ एवं मैस्टोडन (विशाल आकार के हाथी), सैबरटुथ्ड टाइगर (तलवार की तरह विशाल दांतवाले बाघ) एवं विशाल सींगों वाले हिरण ख़त्म हो गये जबकि छोटे आकार के चूहे और मध्यम आकार के हाथी, बाघ, भैंस एवं गैंडे आदि अब भी अस्तित्व में हैं। अगर हम चारों ओर नजर डालें तो पायेंगे कि जीवों में छोटे आकार के जीवों की ही बहुलता चारों ओर है। बड़े आकार के जीव इनी-गिनी संख्या में ही हैं और इनमें अनेकों लुप्त होने के कगार पर हैं। इसका सीधा कारण यह दिखाई देता है कि बड़े जीवों को अस्तित्व में बनाये रखने के लिए

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़ी मात्रा में पदार्थ और ऊर्जा दोनों की आपूर्ति आवश्यक होती है। साथ ही वे परिवेश के हिसाब से जल्दी अपने को बदल नहीं सकते। अलफ्रेड रसेल वैलेस ने, जिसका नाम डार्विन के साथ विकासवाद के सिद्धान्त के जनक के रूप में लिया जाता है, बड़े जीवों के अस्तित्व के नाश के संबंध में लिखा है :

'सब से पहली बात तो यह है कि वृहद् आकार के जीवों को आकार के अनुपात में ही भोजन की आवश्यकता होती है, और परिस्थिति में किसी प्रतिकूल बदलाव से छोटे जीवों की अपेक्षा उन पर अधिक प्रभाव पड़ता है। दूसरा, इनका अति-विशिष्टीकरण (स्पेशलाइजेशन) इनके लिए किसी नयी दिशा में परिवर्तन को काफ़ी मुश्किल बना देता है। उपयोगी परिवर्तन की संभावना प्रजाति की संख्या के अनुपात में होती है, और छोटे जीव न सिर्फ़ आबादी के हिसाब से बड़े जीवों से कई सौ गुना अधिक संख्या में होते हैं, बल्कि इतनी ही तेजी से संख्या बढ़ाते हैं। अतः इनमें परिस्थिति के अनुसार तेज बदलाव होता है।'[1]

हमने प्रारम्भ में यह विचार व्यक्त किया था कि आकार के कारण परिस्थिति के अनुकूल जल्दी परिवर्तन की अक्षमता के ही कारण मनुष्य को संस्कृति विकसित करनी पड़ी जिससे बदलती परिस्थितियों की चुनौतियों का मुकाबला कर सके। लेकिन उपभोग के विस्तार से आदमी जिस तरह की सामाजिक जटिलता और विशालता पैदा कर रहा है उससे उस सोच का ही नाश हो रहा था जिसे प्राप्त करने के लिए संस्कृति बनी थी। जो संस्कृतियाँ अपनी आवश्यकताओं को अपनी पारिस्थितिकीय परिवेश में उपलब्ध साधनों की सीमा के भीतर रखेंगी वे चिरायु होंगी और जो मितव्ययिता के इस नियम का उल्लंघन करेंगी नष्ट हो जायेंगी। विशाल आकार की संस्कृतियाँ अपने अस्तित्व के लिए इतनी जटिल व्यवस्थाओं का निर्माण कर लेती हैं कि पारिस्थितिकीय बदलाव होने से उनके अपने ढाँचे को बदलने में बड़ी कठिनाई होती है। एक उदाहरण हमारे महानगरों की जलापूर्ति का है। प्रायः सभी जगह यह दूरदराज स्थित जल-स्रोतों से जटिल इंजिनीयरी व्यवस्था के जरिये होती है। अगर किसी प्राकृतिक या मानवजन्य कारण से यह आपूर्ति बाधित हो जाय तो महानगर की पूरी ज़िन्दगी नष्ट हो जायेगी। इसके विपरीत छोटे समूहों की संस्कृतियाँ ऐसी बदली स्थिति में तुरन्त वैकल्पिक व्यवस्था ढूंढ लेती हैं। सबसे आसान तरीका स्थानांतरण का होता है। चरागाहों पर निर्भर घुमक्कड़ कबीले तो हर वर्ष जल या चरागाह की उपलब्धि के हिसाब से अपना स्थान बदलते रहते हैं। आदिम अवस्था में रहने वाले दुनिया के अनेक छोटे कबीलों पर अस्तित्व का संकट परिवेश के प्राकृतिक बदलाव से नहीं आया है बल्कि मनुष्यों की सर्वग्राही औद्योगिक संस्कृति के आक्रामक अतिक्रमण से आया है। आस्ट्रेलिया के मूल निवासियों या अमेरिका के इंडियन कहे जाने वाले मूल निवासियों के अस्तित्व का संकट ऐसा ही है। भारत में भी अनेक जनजातियाँ जैसे तमिलनाडु के टोडा या बिहार के बीरहोर एवं पहाड़िया ऐसे ही

1. Alfred Russell Wallace, The world of life, Chapman and Hall Ltd., London, 1911

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

दबाव में लुप्त होने के कगार पर हैं। यहाँ इस बात का उल्लेख प्रासंगिक लगता है कि वैलेस की पूर्व चर्चित पुस्तक में अनेक प्रजातियों के नष्ट होने का एक कारण मनुष्यों की उपस्थिति भी माना गया है।

चित्र 9

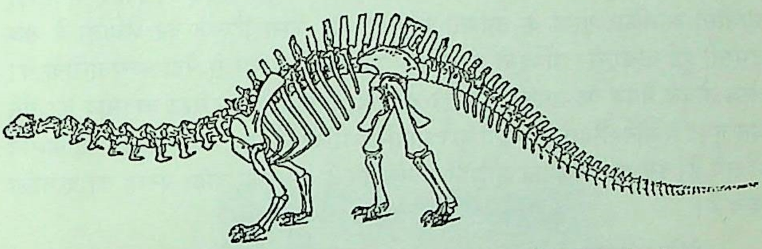

ऊपरी जुरासिक काल के सौरोपोडस डिनोसौर का कंकाल। लम्बाई 55 फुट, ऊँचाई 17 फुट।

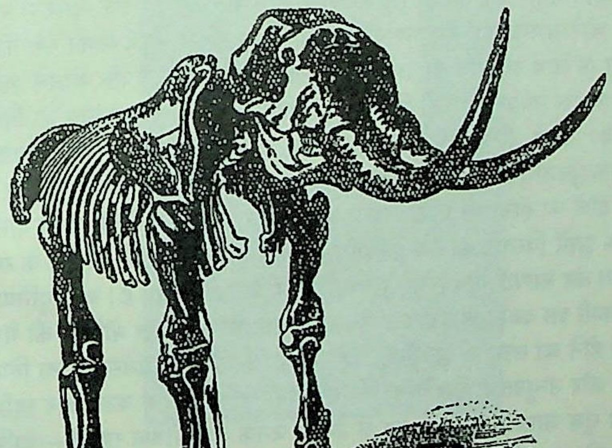

हाथी के पूर्वज विशाल मैस्टोडन का कंकाल। लम्बाई 20 फुट, ऊँचाई 9½ फुट।

आज की प्रभावशाली संस्कृति, विशाल संसाधनों पर निर्भरता से पैदा होने वाली राष्ट्रों की आपसी टकराहट से भी मानव प्रजाति को नष्ट होने की दिशा में बढ़ा रही है। दो विश्वयुद्ध बुनियादी तौर से दुनिया के संसाधनों के लिए संसार के बंटवारे को लेकर उपजे संघर्ष के ही परिणाम थे। ऐसे संघर्ष अब दुनिया के हर भाग में महाशक्तियों के प्रभाव, विस्तार और आर्थिक फैलाव के कारण पैदा हो रहे हैं। दुनिया के सामने सब से

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

बड़ा ख़तरा यह है कि बड़ी संस्कृतियों के फैलाव से छोटे समुदायों में पल रही लघु संस्कृतियाँ और इसके साथ ही सांस्कृतिक विविधता नष्ट हो रही है। इसलिए जब संसाधनों की लड़ाई में बड़ी संस्कृतियों के वाहक राष्ट्र एक दूसरे को नष्ट कर देंगे तो दुनिया का कोई ऐसा कौना नहीं बचेगा या इसमें कोई ऐसी संस्कृति नहीं बची रहेगी जिसमें मानव प्रजाति पनाह पा सके। रूसो का 'नोबुल सैवेज' (उदात्त जंगली), फ्रांसीसी कलाकार गोगां के ताहिती निवासी और जेम्स हिल्टन का शैंग्रिला ये सब उभरती हुई तत्कालीन पश्चिमी संस्कृति से उबरने की इच्छा से पैदा कल्पनालोक थे। आज नोबुल सैवेज का लगभग लोप हो चुका है, ताहिती अब टूरिस्ट व्यवसाय का अंग बन चुका है और शैंग्रिला में चीनी पूरी सामरिक शक्ति के साथ नयी संस्कृति को फैलाने में लगे हैं। इस तरह वर्तमान औद्योगिक संस्कृति के दायरे के बाहर पनाह का दरवाजा बन्द है।

लेकिन आत्मालोचन की क्षमता भी मानव संस्कृति की देन है। इससे काफ़ी देर से ही सही, मनुष्य अपने संपूर्ण इतिहास और आज की अपनी स्थिति को समझ संस्कृति का नया प्रतिमान तैयार कर सकता है। आज यह तो संभव नहीं कि एक-दूसरे से पूरी तरह असंपृक्त छोटे सांस्कृतिक समुदाय अस्तित्व में आयें, लेकिन संपूर्ण मानव वंश की एकता की समझ के साथ स्थानीय समुदाय और परिवेश को जीवन देने और बांधने वाले तत्त्वों को केन्द्र में रख उपयुक्त तकनीकी, कला, साहित्य, संगीत और स्थापत्य का विकास हो सकता है। इसके लिए छोटी आर्थिक और राजकीय इकाइयों की स्वायत्तता को सांस्कृतिक पुनर्जागरण का एक आयाम बनाया जा सकता है। विशाल राज्य और विशाल आर्थिक ढाँचे का होना भी छोटी अंतरंग सांस्कृतिक विधाओं को नष्ट करने वाला होता है क्योंकि इसमें विस्तार का एक अन्तर्भूत दबाव होता है जो अपने परिवेश के सरोकारों की उपेक्षा कर व्यापारिक कारणों से संसार भर में फैलना चाहता है। आज दुनिया भर के संस्कृतिकर्मी इस दबाव के प्रभाव में हैं। इसमें आर्थिक लाभ और मीडिया की मेहरबानी से ख्यात होने का लोभ भी बना रहता है। लेकिन इसमें 'कन्फॉर्मिस्ट' होना नियति बन जाती है और उन्मुक्त सृजनशीलता की संभावना कुंठित। इसमें कला और साहित्य का वह स्रोत सूख जाता है जो युग-युग से उनका जनक और पोषक रहा है—व्यक्ति और समुदाय की पारस्परिकता और उनकी आपसी संप्रेषणीयता। आज की स्थिति से पैदा संप्रेषण का संकट चारों ओर दिखाई देता है। कला और साहित्य की संप्रेषणीयता ख़त्म होती जा रही है क्योंकि कलाकार और साहित्यकार के सृजन का उत्स उसकी भावना उसके समुदाय की भावना से बिल्कुल भिन्न बन गयी है—हालाँकि विज्ञापित हो सतही तौर से इनकी अपील का दायरा बहुत बड़ा हो जाता है। इसमें कला का अवमूल्यन भले ही हो इससे व्यापारिक लाभ काफ़ी होता है। लेकिन विज्ञापन निर्मित 'महान कलाओं' में अधिकांश की मूल्य-स्फीति का रहस्य यह हैं कि वैसे भोले इंसानों की बात विज्ञापनों के कोलाहल में कोई सुन नहीं पाता जो यह कहे कि 'राजा निर्वसन है।'

SPS Central Library Acc No. 70329

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION

उपहार स्वरूप
Gifted by
राजा राममोहन राय पुस्तकालय प्रतिष्ठान
RAJA RAMMOHUN ROY
LIBRARY FOUNDATION
BLOCK DD-34 SECTOR-1 SALT LAKE
KOLKATA - 700 064

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

CC-0. In Public Domain. Funding by IKS-MoE

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust.

ISBN 81-87482-17-6

Digitized by eGangotri and Sarayu Trust